हमारी संस्कृति की कहानी

लेखक
प्रोफेसर वासुदेव उपाध्याय
प्राचीन भारतीय इतिहास और संस्कृति-विभाग
पटना-विश्वविद्यालय

प्रकाशक
ग्रन्थमाला-कार्यालय, पटना

मूल्य १॥)

मुद्रक—अयोध्याप्रसाद झा, हिन्दुस्तानी प्रेस, बाँकीपुर, पटना
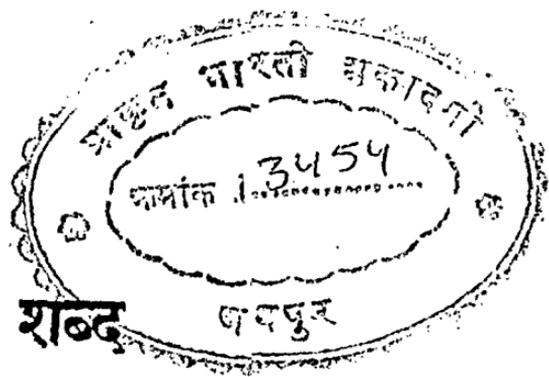
दो शब्द

भारतीय संस्कृति की जानकारी के लिए लोगों में उत्सुकता रही है तथा उस दिशा में प्रयत्न भी होते रहे हैं; किन्तु बालकों तक इस कहानी के पहुँचाने की भी नितांत आवश्यकता थी। इस छोटी पुस्तक में प्राचीन संस्कृति का वर्णन तो है ही, साथ ही अरब-तुर्कों के आगमन-काल से लेकर आज तक के उसके स्वरूप और समन्वय को व्यक्त करने की चेष्टा की गयी है। भारतीय संस्कृति के बंधुत्व-गुण को भी दिखाकर इसमें बतलाया गया है कि हिन्दू तथा मुसलमान, दोनों ने समाज से विरोधी भावों को निकाल बाहर करने की पूरी कोशिश की थी। हमारी संस्कृति का जो स्वरूप मुसलमानों के आने के समय रहा, थोड़े-बहुत अंतर के साथ वह चला आ रहा है। सहिष्णुता और सहयोग की उसी भावना की कहानी मैंने बालकों के सामने रक्खी है और मुझे आशा है, वे उसे समझने की कोशिश करेंगे।

पटना विश्वविद्यालय,
१० अगस्त, १९५०

—वासुदेव उपाध्याय

विषय-सूची

हमारी संस्कृति की कहानी

भारतीय संस्कृति का स्वरूप

अपनी संस्कृति की कहानी सुनने से पहले यह जान लेना जरूरी है कि संस्कृति क्या है तथा संस्कृति किसे कहते हैं। संस्कृति शब्द बड़ा व्यापक है। किसी भी जाति या राष्ट्र के शिष्ट पुरुषों के विचार, वाणी तथा क्रिया के व्याप्त रूप को ही संस्कृति कहते हैं। साधारणतया लोग इसका प्रयोग सभ्यता के अर्थ में करते हैं; लेकिन दोनों एक-दूसरे से भिन्न हैं। सभ्यता बाहरी चीज का नाम है और संस्कृति भीतरी तत्त्व है। संस्कृति के अपनाने में देर लगती है, पर सभ्यता का अनुकरण शीघ्र किया जा सकता है। जंगली जाति भी कोट-पैंट पहन और बंगले में रहकर यूरोपियन बन सकती है; पर उसकी सांस्कृतिक स्तर यूरोपियन-जैसा नहीं हो सकता। धोती पहन, आसन पर भोजन कर तथा झोपड़ी में रहकर कोई भारतीय संस्कृति में रँगा नहीं जा सकता। यह ठीक है कि संस्कृति का आधार धर्म है; पर यह बात सदा के लिए सत्य नहीं है। एक धर्मवाले दूसरे के समीप खिंच जाते हैं, पर सर्वदा दोनों की संस्कृति एक-सी नहीं हो सकती। जैसे, बंगाल के मुसलमान तथा सीमाप्रांत के पठान की संस्कृति एक नहीं है। बंगाल के मुसलमान की संस्कृति पूर्वी बंगाल के हिन्दुओं से अधिक मेल खाती है। योरप-वालों की भी संस्कृति एक-सी है, यद्यपि वे सब विभिन्न धर्मों

के माननेवाले हैं। अतएव संस्कृति उस दृष्टिकोण को कहते हैं, जिसमें लोग जीवन की समस्याओं को एक ही तरह देखते हैं। इससे यह समझना चाहिए कि पुराने तथा नये युग में लोगों का दृष्टिकोण विभिन्न रहा है। मनुष्य का दृष्टिकोण बदलता रहता है। आज जो कुछ मनुष्य सोचता है, समय बीतने पर वह संस्कार के रूप में तो रह जायगा; परन्तु उसी रूप में वह नहीं सोच सकता, उस समय की अनुभूति तो कुछ दूसरी ही होगी। इस प्रकार संस्कृति बदलती रहती है। वह स्थिर नहीं है। एक जाति के विभिन्न युगों में पृथक्-पृथक् ढंग की संस्कृति दिखलाई पड़ती है। भारत के प्राचीन काल में जो सांस्कृतिक बातें दिखलाई पड़ती हैं, वे मुसलमानों के युग में नहीं रहीं और न आज का भारत पुराने दृष्टिकोण से देखता है।

उस संस्कृति को आज हम सब देखने तथा मनन करने लगे हैं। अपने गौरव को जानने की उत्कंठा हो जाती है। उस उत्सुकता का एक कारण भी है। आज से ५,००० वर्ष पहले की बातें आज से भिन्न थीं; परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि भारतीय संस्कृति जल्दी-जल्दी बदलती जा रही है। इसके प्रतिकूल यह कहना आवश्यक है कि जो बातें संस्कृति को सँवारती हैं, उनमें बहुत कुछ अपरिवर्तनशील होती हैं; इस कारण उनमें स्थायित्व भी होता है। देश की प्रकृति तथा जलवायु में जल्दी परिवर्तन नहीं होता। देश का इतिहास तथा आर्थिक जीवन प्रायः उसकी भौगोलिक परिस्थिति पर निर्भर रहता है। इसलिए घटनाओं के बदलते रहने पर भी आर्थिक जीवन की रूपरेखा बहुत-कुछ एक-सी रहती है। राजनीतिक जीवन की प्राचीन स्मृतियाँ समस्त राष्ट्र की अनुभूति और उससे पैदा हुए संस्कार संस्कृति को जल्दी बदलने नहीं देते।

यदि भारत पर दृष्टि डाली जाय तो पता चलता है कि यहाँ हिन्दुओं की संख्या सबसे अधिक रही है। देश के ग्राम हिन्दू-प्रधान रहे हैं। यही स्थान वैदिक काल से आज तक ऐतिहासिक घटनाओं का केन्द्र रहा है। इस कारण यहाँ के निवासी बहुत कुछ समान रूप से विचार करते हैं। उन अनुभवों से जो संस्कार बना, उसने सबको एक ही साँचे में ढाला। इस देश में हिन्दुओं के अतिरिक्त अन्य जातियाँ (ईसाई, मुसलमान) भी रहती हैं, जिनके विचार बाहर से आये थे; पर स्थान तथा पारस्परिक प्रभाव के कारण एक मिली-जुली संस्कृति पैदा हुई, जिसे हम भारतीय ही कह सकते हैं। इसमें वही प्राचीन धारा बहती है, जो वैदिक युग में थी और जो ऋषियों-मुनियों के द्वारा पुष्ट की गयी थी। इसमें जो कुछ भी परिवर्तन समय के प्रभाव से होते रहे, उनपर विदेशियों की दृष्टि एक-सी ही रही। बाहर के लोग उसे भारतीय संस्कृति ही कहते हैं।

भारतीय संस्कृति के अनुयायियों ने अपने विचारों को विभिन्न मार्गों से व्यक्त किया। उसमें धर्म, वाङ्मय, चित्रकला तथामूर्ति कला सम्मिलित हैं। प्रायः लोग उत्तर और दक्षिण में विभिन्नता देखते हैं; परन्तु वह भेद बाद का है। फिर भी, देश तथा काल के कारण भेद रहते हुए भी भारतीय संस्कृति की कुछ विशेषता है। वह अपना पृथक् अस्तित्व रखती है। यदि ऐसा न होता तो भारत की संस्कृति को एक नाम से पुकारने में सार्थकता न आती। वह विशेषता आज या कल की नहीं है, वह प्राचीन काल से चली आयी है। यह वही गुण है, जो अन्य संस्कृतियों से इसे भिन्न करता है और मानव के लिए संदेश देता है। विश्व-संस्कृति की रचना में भारत की यही देन है। उसी को विवेकानन्द ने सारे पश्चिमी जगत् को बतलाया था। सनातन-धर्म के अनुयायी यह मानते हैं

कि मनुष्य-जाति के इतिहास में भारत की ही संस्कृति ऐसी है, जो अनादिकाल से आज तक चली आ रही है।

यह तो सही है कि संस्कृति का धर्म से भी सम्बन्ध रहता है। पर, यह मानना गलत होगा कि संस्कृति विशिष्ट धर्म या मजहब की होती है। संस्कृति का तो सम्बन्ध राष्ट्र तथा जाति से होता है। भारत में एक ही व्यापक संस्कृति है। दूसरे लोगों के असम्बन्धित कथन को विदेशी संस्कृति समझनी चाहिए। अन्यथा मुसलमानों की एक संस्कृति होनी चाहिए, पर वास्तव में ऐसा नहीं है। चीन के मुसलमानों की चीनी संस्कृति है तथा ईरानियों की ईरानी। इसी तरह बौद्ध-संस्कृति की भी बात कही जाती है। बौद्ध-मत का प्रचार तो चीन, जापान, तिब्बत तथा बर्मा में है, पर सबकी संस्कृति एक-सी नहीं है। विभिन्न देशों में बौद्धमत के अनुयायी होने पर भी उन लोगों की संस्कृति उसी देश की संस्कृति मानी जाती है। संस्कृति के विकृत हो जाने पर राष्ट्र का नाश हो जाता है। राष्ट्र के सबल होने और सुसंगठित रहने पर मानसिक गठन तथा विचारधारा अविकल रूप में बनी रहती है। राष्ट्र के शिष्ट पुरुषों के विचार और क्रिया-शैली के सम्मिलित रूप को ही संस्कृति कहते हैं।

इन सब बातों से यह स्पष्ट है कि संस्कृति किसी एक वस्तु का नाम नहीं है। उसमें युग-युग की विचार-धारा तथा क्रिया का फल दिखलाई पड़ता है। जिस देश में जितने विचारशील तथा क्रियाशील व्यक्ति होंगे, सभी कुछ-न-कुछ राष्ट्र की उन्नति के लिए कार्य करेंगे। उन सब बातों का विवरण हमारी संस्कृति का इतिहास है तथा उसकी कहानी हम सब सुनेंगे।

× × ×

भारतीय संस्कृति की कहानी का प्रारम्भ अतीत से होने पर

भी, उसे सुनने के लिए लोग उत्सुक रहते हैं। भारतवर्ष की ओर संसार की आँखे रही हैं। अब तो हम स्वतंत्र हो गये हैं; अतः अन्य देशों का ध्यान हमारी ओर आकर्षित होना स्वाभाविक है। हम सब भी अपने अतीत गौरव की ओर देखने लगे हैं और यह जानने की कोशिश करते हैं कि हम कौन थे, हमारा वास्तविक स्वरूप क्या था। हमें यह देखना है कि हमारी संस्कृति में क्या विशेषता थी, जिसके कारण हम आज भी जीवित हैं।

हमारे प्राचीन ग्रन्थों में भारत के सम्बन्ध में अनेक सुन्दर बातें कही गयी हैं और पुण्यभूमि होने के कारण ही देवताओं के रहने के योग्य स्थान बतलाया गया है। हमारा देश सुख तथा शांति का घर रहा और ऐश्वर्य के कारण देवतागण भी इसकी प्रशंसा में गीत गाते रहते थे—

गायन्ति देवाः किल गीतकानि
धन्या स्तु ये भारतभूमिभागे।

यह कोई अत्युक्तिपूर्ण वाक्य नहीं है। इसकी वास्तविकता प्राचीन कहानियों के पढ़ने से मालूम हो जायगी। भारतीय संस्कृति के विकास में भौगोलिक वातावरण ने काफी सहायता की है। भारत के उत्तर में हिमालय और उसकी शाखाओं ने तथा तीन ओर समुद्र ने एशिया की विषाक्त स्थिति से भारत को पृथक् रक्खा। यद्यपि इस देश पर बाहरी शत्रुओं के आक्रमण हुए; परन्तु ईरान, सीरिया, चीन आदि के मुकाबले में भारतवर्ष शांति के साथ विभिन्न कार्य करता रहा। यह तो मानना ही पड़ेगा कि हिमालय ने उत्तर से शत्रुओं के आक्रमण को निष्फल बना दिया; लेकिन उत्तर-पश्चिम के दर्रे से आने-जाने का मार्ग था। इसी मार्ग से आर्य लोगों से लेकर मुसलमान विजेता तक भारतवर्ष में आये। इसी मार्ग से भारतीय व्यापारी माल लेकर योरप तक जाया करते थे। पेशावर के दर्रे से

होकर सिकन्दर भारत में आया तथा बौद्ध-धर्म के प्रचारक योरप तथा एशिया के पश्चिमी देशों में गये थे। चौथी सदी से लेकर सातवीं सदी तक चीनी यात्री इसी दर्रे को पार कर भारतवर्ष में आयें थे। इस प्रकार हम देखते हैं कि पेशावर के दर्रे ने इस देश में आक्रमणकारियों को आने का मार्ग दिया।

१६०० ई० के समीप जब मुसलमानों ने भूमध्यसागर के सभी देशों पर अधिकार कर लिया था, उस समय योरपवालों ने भारत पहुँचने के लिए नया मार्ग ढूँढ़ निकाला। आवश्यकता आविष्कार की जननी है। यही कारण था कि पुर्तगाली नाविक अफ्रिका के किनारों को पार करता हुआ भारत के पश्चिमी किनारे पर पहुँचा। यद्यपि बहुत पुराने समय से ही भारतवासी अरब-सागर तथा हिन्दमहासागर में जहाजों पर सामान लादकर दूर के देशों में व्यापार के लिए आया-जाया करते थे; परन्तु अफ्रिका के किनारे होकर भारत का सामुद्रिक मार्ग नया था। इसका फल यह हुआ कि उत्तर-पश्चिम के दर्रे की प्रधानता जाती रही और समुद्र से होकर विदेशी आने-जाने लगे।

शत्रुओं से रक्षा करने के अतिरिक्त हिमालय से भारत की प्रधान नदियाँ निकलती हैं। संसार के इतिहास में नदियों की घाटी ही सभ्यता का क्षेत्र मानी गयी है। मिस्र में नील, मैसोपोटामिया में दजला-फुरात, मध्यएशिया में तरीम घाटी तथा भारत में गंगा-सिन्धु की घाटियाँ संस्कृति के उद्गम स्थान मानी गयी हैं। कुछ विद्वानों की राय है कि दर्रे के रास्ते से आकर आर्यलोग पंजाब में बसे थे और वहीं सिन्धु की घाटी में वैदिक मंत्रों की रचना की। पंजाब से हटकर पूर्वी भाग (गंगा-यमुना के द्वाब में) आर्य निवास करने लगे और वेदों को पूर्ण रीति से समाप्त किया। इसी

ब्रह्मावर्त्त प्रदेश से आर्य-संस्कृति सर्वत्र फैली। आर्यलोगों ने नदियों के किनारे अपना घर तैयार कर गृहस्थी के कार्य आरम्भ किये और आदिम निवासियों को जीतकर अधिकार स्थापित किया। उत्तर भारत के अतिरिक्त अगस्त्य ऋषि ने विंध्य के दक्षिण में आर्य-संस्कृति का संदेश पहुँचाया था। उसी संस्कृति को श्री रामचन्द्र ने दक्षिण में विस्तृत कर असभ्य निवासियों को आदर्श का मार्ग बतलाया था। भूमि की उर्वरा शक्ति तथा वर्षा के कारण भारत धान्य से भरा था, जिसकी समृद्धि की ख्याति देश-विदेश में फैल गयी। पूर्व-मध्ययुग के आरम्भ से विदेशियों की आँखें भारत पर पड़ने लगीं। तुर्कलोग भारत को सोने का खजाना समझते रहे। इस्लाम-धर्म के अभ्युदय के कारण मुसलमानों ने भारत पर आक्रमण कर लोगों को इस्लाम-धर्म ग्रहण करने के लिए वाध्य किया था। अफगानिस्तान के सुल्तानों ने देश की अतुल सम्पत्ति लूट लेने का बीड़ा उठाया था, जिनमें मुहम्मद गजनवी का नाम सर्वप्रथम रहा। सातवीं सदी में सिन्ध के मार्ग से अरबवाले भारत में घुस आये थे और मुलतान तक अपना राज्य कायम किया था। अरबवालों से पहले भी सिन्ध के मार्ग से शक-जाति के लोग मध्यएशिया से आये थे; परन्तु उन लोगों ने हिन्दू-धर्म स्वीकार कर लिया और भारतीय बन गये। सारांश यह है कि विदेशी आक्रमणकारियों को खींचने का एक मात्र कारण भारतीय वैभव था और भौगोलिक परिस्थिति ने विभिन्न प्रकार से उस कार्य में सहायता पहुँचायी थी। क्या सिकन्दर, शक, हूण तथा क्या इस्लाम धर्मानुयायी, सभी ने पहाड़ी दर्रों से ही भारत में प्रवेश कर राज्य-विस्तार किया था।

भारत की आर्थिक उन्नति में भौगोलिक स्थिति ने पूरी तरह से हाथ बँटाया। भारत अपने सुन्दर वस्त्र तथाः विलासपूर्ण

सामग्रियों के लिए संसार-प्रसिद्ध था। भारतीय जलवायु में सरलता से वे पैदा हो सकती थीं। अशोक के धर्म-प्रचारकों को छोड़ अन्य देशों में भारतीयता के संदेशवाहक व्यापारीवर्ग ही थे। व्यापार के सिलसिले में भारतीय संस्कृति का वृहत्तर भारत में फैलाव हुआ। भारतीय वस्तुओं को प्रयोग करनेवाला देश संसार में सभ्य समझा जाता था। योरप की ऊँची श्रेणी के लोग भारतीय वस्त्र पहना करते थे। संसार में इस प्रकार की ख्याति का एकमात्र कारण व्यापार था और उसका आधार देश की जलवायु तथा भौगोलिक अवस्था था। इसीलिए मानव-इतिहास से भूगोल का घनिष्ठ सम्बन्ध बतलाया गया है।

भारत उस प्राचीन समय में सभ्यता की चरम सीमा पर पहुँच गया था जब आजकल के अनेक पश्चिमी सभ्य देश जंगली लोगों के निवास-स्थान थे। इतिहास यह बतलाता है कि मिस्र, एसिरिया तथा बेबिलोन की सेमिटिक संस्कृति भारत की तुलना में श्रेष्ठ न थी। यही कारण था कि संसार के लोगों की आँखें भारत की ओर सदा से लगी रहीं।

विदेशी शासन के कारण हम सब कुछ भूल गये थे। यद्यपि भारतीय जीवन तथा संस्कृति की धारा रास्ता बदलती गयी; परन्तु उसके चिह्न अभी तक बाकी हैं। इसमें गतिहीनता अवश्य दिखालाई पड़ती है; परन्तु उसमें वह जीवन-तत्त्व तथा शक्ति छिपी रही, जिसके कारण हम जीवित रह सके तथा समय के थपेड़े को सहकर भी हमारी संस्कृति कायम रह सकी।
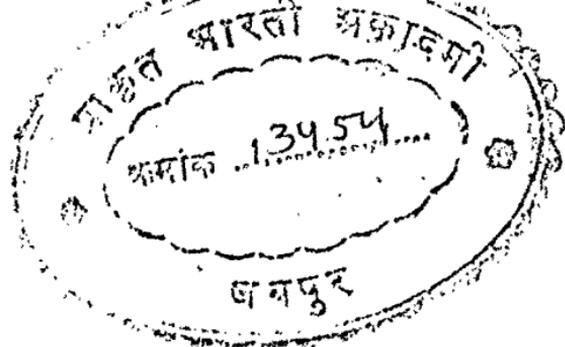
मोहंजोदड़ों से पाटलिपुत्र

भारत का सांस्कृतिक जीवन आज से कई हजार वर्ष पहले से आरम्भ होता है। खुदाई में ईसा के सहस्रों वर्ष पूर्व की संस्कृति का पता चला है, जिसे धातु के प्रयोग के कारण लौहयुग अथवा ताम्रयुग कहते हैं। उस समय समाज में हथियार, औजार तथा घरेलू सामग्रियाँ उन धातुओं से बनायी जाती थीं। उस समय का जीवन कैसा था, यह कहना कठिन है; पर जो चीजें मिली हैं तथा पहाड़ के गुफाओं में जो चित्र खिंचे पाये गये हैं, उनसे तत्कालीन भारतीयों के जीवन-कार्य का अनुमान किया जा सकता है। बलुचिस्तान के नाल स्थान से भिन्न सिन्धु-घाटी में मोहंजोदड़ों नामक स्थान पर अधिक चीजें मिली हैं, जिनके आधार पर ईसा-पूर्व तीन हजार वर्ष की भारतीय संस्कृति का ज्ञान किया जाता है। इसकी वस्तुएँ ईरान तथा मेसोपटामिया की पुरानी चीजों से मिलती-जुलती हैं। हरप्पा (पाकिस्तान), मांटगोमरी जिला तथा मोहंजोदड़ों, सिन्ध (पाकिस्तान) के लरकाना जिले में स्थित हैं। वहाँ की खुदाई से पता लगता है कि आज से पाँच हजार वर्ष पूर्व उस स्थान पर वैज्ञानिक ढंग से नगर बसाये गये थे। वहाँ की मिली वस्तुओं तथा भग्नावशेष से उस नगर की बनावट तथा सभ्यता के विषय में बहुत-सी बातें मालूम होती हैं।

वहाँ के नगर की बनावट पर ध्यान दिया जाय तो पता चलता है कि शहर एक सुन्दर पैमाने पर बसाया गया था। सीधी सड़कों

के किनारे मकान बने थे, जिनमें पक्की ईंटों तथा गारे का प्रयोग किया गया था। इसकी समता आधुनिक नगर से की जा सकती है। प्रत्येक घर में पक्की ईंटों के कुएँ तैयार किये गये थे। घर से बाहर पानी निकलने के लिए नालियाँ थीं, जो मकान के पीछे से निकलकर बड़े नालों से मिलायी गयी थीं। स्नानघर भी समुचित रूप से बनाये गये थे। बड़ी सार्वजनिक इमारतें तथा स्तम्भयुक्त कमरों से मोहंजोदड़ों के लोगों के विकसित सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन का पता लगता है। वहाँ से प्राप्त मुहरों के ऊपर सुमेरियन ढंग के अक्षर खुदे हैं। जानवरों की मूर्तियाँ (नन्दी आदि) से मोहंजोदड़ों की कला का परिज्ञान हो जाता है। मुहरों पर खुदे जानवर, नन्दी तथा शिव की आकृति से पता चलता है कि वहाँ के लोग शैव थे। मोहंजोदड़ों से अनेक मिट्टी की मूर्तियाँ भी मिली हैं। उनके सिर पर वस्त्र तथा शरीर के आभूषण (हार तथा कर्णफूल) यह बतलाते हैं कि वह देवी की मूर्ति थी। मुहरों, मिट्टी की मूर्तियों तथा प्रतिमाओं से पता चलता है कि जानवरों की भी पूजा लोग करते थे। शिव-लिङ्ग, सूर्य तथा धरती माता की पूजा का प्रमाण तो मिलता ही है।

मोहंजोदड़ों के लोग घरेलू पशुओं में बैल, भैंस, भेड़, ऊँट, हाथी, हिरण पालते थे और शेर तथा बंदर से भी परिचित थे। दैनिक जीवन में अनेक प्रकार की सामग्री का प्रयोग होता था। मिट्टी के पात्रों में बंद गेहूँ तथा जौ मिले हैं, जिससे सिन्धु-घाटी में इन अन्नों के पैदा होने की बात जानी जाती है। वह अवस्था आज भी वर्त्तमान है और कहा जा सकता है कि सिन्धु की घाटी में गेहूँ सदा से पैदा होता रहा है।

मोहंजोदड़ों की खुदाई में अनेक प्रकार के आभूषण मिले हैं। इनमें सोना, चाँदी तथा ताम्बे की प्रधानता है। हाथी-दाँत, हड्डी

मोहंजोदड़ो के भग्नावशेष [चित्र के ऊपरी अंश में खुदाई से प्राप्त सिक्के तथा पुरुष-मूर्ति]

तथा शंख की चूड़ियाँ भी मिली हैं। रुई तथा ऊनी वस्त्रों का पता लगा है। अन्न आदि तौलने के बाट तक खुदाई से निकले हैं। बच्चों के खेलने के निमित्त गुड़ियाँ, सीटी, गाड़ी के रूप में खिलौने, जल-पात्र तथा अन्न रखने के लिए बड़े बर्तन मिट्टी से बनाये जाते थे। इन सब बातों से पता चलता है कि मोहंजोदड़ो के लोग सभ्य ही नहीं, वरन् धनी तथा वैभवपूर्ण थे। वहाँ की संस्कृति संसार की प्राचीनतम संस्कृति की तुलना में रक्खी जा सकती है।

इतना जानते हुए भी यह कहना कठिन है कि मोहंजोदड़ो के रहनेवाले कौन थे, कहाँ से आये थे? मोहंजोदड़ो की सभ्यता किस अचानक घटना से समाप्त हो गयी, इसके विषय में निश्चित रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता। वहाँ से प्राप्त मुहरों के पढ़े जाने पर ही ठीक मालूम हो सकेगा कि वहाँ की संस्कृति भारतीय थी, या विदेशी। कुछ विद्वानों का मत है कि सुमेरियन लोग सिन्धु की घाटी में आकर बस गये थे; जैसे बाद में सिन्ध में अरब के मुसलमान। कुछ लोग इसे भारतीय मानते हैं तथा इसका सीधा सम्बन्ध आर्यों से पूर्व रहनेवाले द्रविड़-जाति से मानते हैं।

आर्यों से पहले भारतवर्ष में लौहयुग तथा ताम्रयुग में विभिन्न प्रकार के लोग रहा करते थे, जिनकी अपनी सभ्यता थी। शिकार तथा जंगल में पैदा होनेवाली वस्तुओं पर इनलोगों का जीवन निर्भर था। हथियार पत्थर या हड्डियों के बने रहते थे। इन्हीं काले रंग के लोगों को आदिम निवासी माना जाता है। धीरे-धीरे इन लोगों ने बढ़िया पालिशदार पत्थर के हथियार बनाये। उस समय आदिम निवासियों को आग जलाने तथा भोजन पकाने के तरीके मालूम थे। बाद में आनेवाले लोगों ने खेती करना

भी आरम्भ कर दिया और धातु के औजार तैयार करने लगे। विद्वानों का मत है कि उस समय वे लोग मृत व्यक्ति को जमीन में गाड़ देते और पत्थर की कब्रें बनाया करते थे। पत्थर के बाद धातु-लोहा तथा ताम्बे का प्रयोग समाज में होने लगा। लोहे के हथियारों से उन आदिम निवासियों ने आर्यों का मुकाबिला किया। वे लोग आज भी उत्तर तथा दक्षिण भारत में पाये जाते हैं और कोल, भील, संथाल, मुंडा आदि उनके वंशज माने जाते हैं।

दक्षिण भारत के आदिम निवासी द्रविड़ नाम से पुकारे जाते हैं, जो आज तमिल, तेलगू तथा कन्नड़ भाषा-भाषी लोगों के रूप में चले आ रहे हैं। इनके बारे में भी कहा जाता है कि द्रविड़-लोग पश्चिमी एशिया से बलूचिस्तान के मार्ग होकर भारत में आये थे। कुछ लोग ऐसा नहीं मानते। उनका कहना है, वे लोग भारतवर्ष के ही मूल निवासी थे और यहीं से बलूचिस्तान होकर पश्चिमी एशिया में फैले। पर, यह तो सभी मानते हैं कि आर्यों के आने से पूर्व द्रविड़-जाति भारत में रहती थी, जिसने आर्यों का मार्ग रोका था। वैदिक ग्रन्थों में उस रुकावट का संकेत किया गया है।

वे गौर वर्ण के आर्य भारत में कहाँ से आये, यह भी एक विवादपूर्ण प्रश्न है। जो भी हो, यह मान लिया गया है कि आर्य मध्य-एशिया से दक्षिण की ओर बढ़े तो एक शाखा पूरब की ओर भारत में खैबर के दर्रे से होकर आयी और उत्तर-पश्चिमी प्रांत तथा पंजाब में बस गयी। वहीं आर्य लोग अधिक समय तक रहे। वहाँ वेद की रचना आरम्भ हुई थी और बाद में वे गंगा की घाटी में फैले। आर्य लोगों का जीवन एक विशेष प्रकार का था, जिसका वर्णन वेदों में मिलता है। वेदों के

आधार पर प्राचीन भारत के संबंध में अनेक बातों का पता लगता है।

आर्य जब उत्तर-पश्चिम के रास्ते से भारत में आये, तो उन्हें मूल निवासियों से युद्ध करना पड़ा। उस समय आर्य-जाति में कई परिवार मिलकर रहते थे, जिनका मुखिया चुनकर बनाया जाता था। युद्ध में कार्यभार ग्रहण करनेवाला व्यक्ति ही मुखिया चुना जाता। द्रविड़ लोगों से शत्रुता के कारण आर्यों की जातियाँ मिलकर कार्य करने लगीं। यद्यपि द्रविड़ लोगों ने जोर का मुकाबिला किया; लेकिन आर्यों के नये ढंग के हथियार, संगठन तथा शक्ति के सामने वे ठहर न सके। हारने पर भी द्रविड़ जंगल में छिपे रहे और समय पाकर आर्यों के गाँवों पर छापा मारते तथा पशुओं को चुरा ले जाते थे। सैकड़ों वर्षों तक इस तरह का युद्ध होता रहा; लेकिन अंत में आर्य सफल हुए। विजयी होकर उन्होंने अपनी सभ्यता तथा संस्कृति फैलायी और जंगलों तथा वीरान स्थानों पर ग्राम और नगर बसाये। कुछ द्रविड़ भी विजेता के दास के रूप में समाज में गये।

× × ×

भारतीय संस्कृति का मूल स्रोत वेदकालीन संस्कृति मानी जाती है; इसलिए वैदिक संस्कृति को विस्तार से जान लेना आवश्यक है। प्राचीन काल में भारत में आर्यों का आवागमन एक महत्त्वपूर्ण घटना थी। यहाँ आकर आर्यों ने अपनी भाषा, धर्म तथा रीति-रिवाज फैलाये, जिनके आधार पर हिन्दू-संस्कृति का विकास हुआ। द्रविड़-सभ्यता भी इससे प्रभावित हुई थी। वेदकालीन आर्य गाँवों में निवास करते थे। खेती ही उनका मुख्य पेशा था। वे नहर तथा कुएँ से खेत सींचते थे। हलों में घोड़े जोते जाते थे। उस समय गेहूँ की ही खेती होती थी। चावल का नाम कोई नहीं

जानता था। गाँवों में खेतिहर के अतिरिक्त कारीगर भी रहते थे, जो गाड़ी-रथ, धातु के हथियार, सोने-चाँदी के आभूषण (हार, भुजबंध, कड़े तथा ताज) बनाया करते थे। इतने प्रकार के विभिन्न कार्य होने पर भी जाति की भावना न थी। आर्य एक सुसंगठित सामाजिक समूह में रहते थे, जो विशः या जन के नाम से विख्यात थे। पिछले समय में यानी संहिता-काल में आर्य लोगों के सामाजिक तथा धार्मिक जीवन में परिवर्तन हो गया। पूजा-पाठ की विशेषताओं से ब्राह्मण लोगों ने यज्ञ करना आरम्भ कर दिया था। ऋग्वेद के युग में परिवार का वृद्ध व्यक्ति अपनी गृहस्थी के पुरोहित का कार्य तथा यज्ञ किया करता था। लोगों का जीवन सादा था। भोजन में गेहूँ, ज्वार, दाल, तरकारी, दूध, घी, दही तथा मधु का प्रयोग किया जाता था। यज्ञ के मांस तथा सोमरस का भी वे उपभोग करते। मनोरंजन के लिए पासा खेलते, नृत्य तथा गान किया करते थे। रथ-दौड़ एक प्रधान खेल था, जिसका मुकाबिला वर्तमान घुड़दौड़ से कर सकते हैं।

वैदिक काल में स्त्रियों की बड़ी प्रतिष्ठा थी। बहुपत्नी-प्रथा का साधारण लोगों में प्रचार नहीं था। बाद में, ऊँची श्रेणी के लोग दो स्त्रियों से विवाह करने लगे थे। बाल-विवाह का प्रचार न था। विवाहित स्त्रियाँ सहधर्मिणी कही जाती थीं, जिससे घर में स्त्रियों के आदर तथा सम्मान का आभास मिलता है। वैदिक युग में स्त्रियाँ घर या बाहर यज्ञों में पति का साथ दिया करतीं तथा परिवार में उन्हें काफी अधिकार भी थे। उनकी शिक्षा का समुचित प्रबन्ध था। विश्ववारा, लोपामुद्रा, सिकता, निवावरी आदि विदुषियों के नाम प्रसिद्ध हैं, जिन्होंने वेद-मंत्रों की रचना की थीं। इसी कारण वे ऋषियों की श्रेणी में रक्खी गयी हैं।

वेद तो ज्ञान के भाण्डार हैं। उनके अध्ययन से तत्कालीन धार्मिक अवस्था का भी वर्णन मिलता है। ऋग्वेद के पहले, दूसरे तथा सातवें मण्डलों में प्रकृति-देवी की पूजा का वर्णन मिलता है। मंत्रों में उनकी प्रार्थना तथा देवों की यज्ञ-पूजा का वर्णन पाया जाता है। प्रकृति-देव—द्यौस, पृथिवी, अग्नि, इन्द्र, उषा आदि आर्यों के पूज्य देव माने गये हैं। इन सबसे आर्यों के जीवन का घनिष्ट सम्बन्ध था। पृथिवी उपज का कारण थी तो इन्द्र वर्षा के देव थे। उषा अन्धकार को मिटाने तथा जीवन-दान के लिए पूजित थी। इन्द्र ही प्रधान देव थे। ऋग्वेद में इन सब देवों की प्रार्थना में अनेक मंत्र लिखे गये हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि वैदिक युग में प्रकृति-देवों से ही लोग संतुष्ट न थे, ईश्वर की विचार-धारा भी चल पड़ी थी। आर्य परमपिता सृष्टिकर्त्ता ईश्वर से प्रकृति-देवों में भिन्नता समझने लग गये थे। परमात्मा विश्व का कारण माना गया, जिसका विचार ऋग्वेद के दसवें मण्डल में पाया जाता है।

आर्य लोगों ने प्राचीन समय में शासन के कार्य भी संगठित रूप से चलाये थे। युद्ध में तो रथ काम में लाया जाता था। अस्त्र-शस्त्रों में तलवार, भाला, परशु, धनुष-बाण तथा कवच के नाम मिलते हैं। कहा जाता है कि आर्य लोग विषैले बाण का भी प्रयोग करते थे। प्रायः नदियों के किनारे युद्ध हुआ करता था; इसीलिए परुष्णी (रावी), विपाश (व्यास) तथा शतुद्री (शतलज) नदियों के समीप युद्धों के विवरण वेदमंत्रों में मिलते हैं। शासन-प्रबन्ध में वंशानुगत राजाओं के नाम ज्ञात हैं, जिनमें दिवोदास का प्रथम नाम मिलता है। पर राजा का अधिकार असीमित न था। समिति नामक संस्था द्वारा वह राजा चुना जाता। वह जाति का मुखिया समझा जाता। उसकी सहायता के लिए सेनानी तथा पुरोहित नायक

अधिकारी थे। राजा समिति तथा सभाओं के द्वारा विधान तैयार करता ; क्योंकि समिति वर्तमान विधान-सभा की तरह कार्य करती थी। सम्भवतः वही अधिकारीगण बाद में चलकर मंत्री-परिषद् के रूप में परिणत हो गये।

यही वैदिक संस्कृति कुछ नयी बातों को लेकर विकसित होती गयी। उत्तर वेद-कालीन संस्कृति में उन सुधारों का पूर्ण विकास हो गया था। स्वयं आर्य लोग भी पंजाब से मध्य-देश (उत्तर-प्रदेश तथा बिहार) में बस गये थे। कुरुक्षेत्र ब्राह्मण-संस्कृति का केन्द्र हो गया, जिसने पीछे विदेह का स्थान ग्रहण किया। इन ग्रन्थों में अनेक प्रसिद्ध नगरों के नाम मिलते हैं, जिससे मालूम होता है कि आर्यों की आर्थिक अवस्था अच्छी तथा सांस्कृतिक जीवन ऊँचा था। पहले की छोटी रियासतें बड़े राज्य का रूप धारण कर चुकीं थीं। कुरु-राजा परीक्षित का नाम अथर्ववेद में लिखित है, जिसके राज्य-काल में लोग सुखी थे। उसका पुत्र जनमेजय बहुत बड़ा विजेता माना गया है। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार तक्षशिला में वह राजसभा की बैठक किया करता था। हस्तिनापुर में कुरु-राजा बहुत समय तक राज्य करते रहे। उसके वंश के ह्रास हो जाने पर वहाँ से राजनीतिक प्रभाव मिट गया और उत्तरी बिहार (विदेह) प्रधान केन्द्र बन गया। इस कारण विदेह एक सांस्कृतिक केन्द्र हो गया, जहाँ राजा जनक राज्य करते थे। ऐतरेय ब्राह्मण तथा वृहदारण्यक उपनिषद् में लिखा है कि उन्हें सम्राट् की पदवी दी गयी थी। आर्यों का राजनीतिक वातावरण बदल गया था और राजा के कार्य की वृद्धि के कारण से शासक के अधिकारी-वर्ग की संख्या भी बढ़ा दी गयी। तैत्तिरीय ब्राह्मण में राज्य-कर्म-चारियों को सामूहिक नाम रत्नीन से पुकारा गया था, जो राज्या-भिषेक के अवसर पर प्रमुख कार्य-कर्त्ता माने गये हैं।

संहिता तथा ब्राह्मण के बाद उपनिषद्–युग तक वैदिक संस्कृति अपनी चरम सीमा को पहुँच गयी थी। धार्मिक जगत में उथल-पुथल हो गया था। यज्ञ-यागादि के विस्तार के कारण एक विशिष्ट समूह को यह कार्य सौंपा गया, जो ब्राह्मण के नाम से पुकारे जाने लगे। इन्हें यज्ञ के सूक्ष्म-से-सूक्ष्म क्रिया का ज्ञान था। इस धार्मिक परिवर्तन ने जाति नामक संस्था को जन्म दिया, जो आगे चलकर वंशानुगत जातियाँ बन गयीं। पिछले वैदिक युग में समाज तीन विभागों में बाँटा गया था—(१) ब्राह्मण (पुरोहित), (२) क्षत्रिय (योद्धा तथा शासनकर्त्ता) तथा (३) वैश्य, जो शेष आर्य-जन के सम्मिलित रूप के कारण विख्यात हुए। चौथा विभाग शूद्रों का था, जिसमें आर्य से भिन्न जातियाँ सम्मिलित थीं। जब तक ब्राह्मण यज्ञ में फँसे थे, साधु तथा संन्यासी उच्चतम विचारों में तल्लीन रहते थे। उन्होंने ब्राह्मण-यज्ञों का विरोध किया और अपने विचार को आरण्यक नामक ग्रंथों में लिखकर सबके सामने उपस्थित किया। उसी के अंत में उपनिषदों के नाम लिये जाते हैं, जिनमें ईश्वर की सत्ता तथा तत्सम्बन्धी गम्भीर विवेचन का समावेश पाया जाता है। आरण्यक तथा उपनिषद् में वेदों की अंतिम बातों का विवेचन है। उसमें ब्रह्म तथा मनुष्य की आत्मा के बारे में विचार किया गया है। ब्रह्म के कारण सृष्टि उत्पन्न हुई और अंत में सभी उसी में विलीन हो जाते हैं, ऐसे विचार उपनिषदों में उल्लिखित हैं। उपनिषदों में यज्ञों की निन्दा की गयी थी और ब्राह्मणों की प्रधानता का विरोध किया गया। क्षत्रियों की प्रधानता हो गयी। उस समय दार्शनिक विचारों से भारत गूँज गया था। लोगों में व्यक्तिवाद तथा पृथक्वाद की भावना काम कर रही थी।

इस तरह पता चलता है कि पिछले वैदिक युग में दो प्रकार के विचार काम कर रहे थे। एक साधारण व्यक्ति, जो संसार में लीन

रहना चाहता था और, दूसरे ऊँचे विचारक, जो संसार को छोड़ने की भावना (निवृत्ति-प्रधान) रखते थे। परन्तु इससे यह नहीं कहा जा सकता कि भारतीय विचार तथा संस्कृति त्यागमय थी। दोनों विचारों में संतुलन था।

ब्राह्मण-ग्रन्थों में वर्णित राज्याभिषेक की बातों से पता लगता है कि प्राचीन समय में राजा द्वारा आदर्श शासन का प्रबन्ध किया जाता था ; पर पिछले समय में राज्यतंत्र सर्वत्र कायम न हो सका। भारत के उत्तर-पश्चिम भाग में गणतंत्र भी काम कर रहे थे और भारतीय संस्कृति के विकास में हाथ बँटाते रहे। पाली-ग्रन्थों के आधार पर ज्ञात होता है कि ईसापूर्व सदियों में कुल मिलाकर सोलह जनपद मौजूद थे, जिनमें कुछ के राजा शासक थे और कुछ प्रदेशों में प्रजातंत्र शासन था। यह कहना कठिन है कि वैदिक काल से कौन-कौन-सी संस्थाएँ अक्षुण्ण रूप से बनी रहीं ; पर ईसापूर्व छठी सदी में सोलह महाजनपद कार्य करते थे। स्वभावतः राजा एक दूसरे से प्रतिस्पर्धा करते थे और अपनी राज्य-सीमा के बढ़ाने की कोशिश में रहते थे। राजाओं में मुख्य मगध का राजा था, जो समीप के देशों पर चढ़ाई कर राज्य फैलाने लगा। वहाँ के शासक राजा बिम्बिसार का नाम इतिहास में प्रसिद्ध है। उसी के पुत्र अजातशत्रु ने उत्तरी विहार के वृज्जि लोगों पर आक्रमण किया था। उसी समय पाटलिपुत्र नगर की स्थापना हुई। यहीं राजाओं ने कई सौ वर्षों तक शासन किया, जिन्होंने भारतीय संस्कृति को समृद्ध और परिवर्द्धित किया था।

बुद्ध से विक्रमादित्य

प्रायः ढाई हजार वर्ष पहले भारतीय समाज में दो तरह के लोग थे। वेद तथा उपनिषदों के ऊँचे विचार कुछ चुने हुए लोगों को मालूम थे। उनका मानसिक वातावरण साधारण जनता की समझ से बाहर की बात थी। लोग यज्ञ-यागादि तथा अन्धविश्वास से ऊब गये थे। ऐसे वातावरण में गौतम का जन्म हुआ, जिन्होंने ज्ञान प्राप्त कर लोगों के सामने नया मार्ग (मध्यमार्ग) दिखलाया। राजघराने में जन्म लेकर भी गौतम ने अपने को संसार के सुख से विमुख रक्खा। गौतम के पिता शुद्धोदन ने सांसारिक विषय-वासनाओं में फँस जाने के लिए उनका विवाह भी कर दिया; परन्तु अपनी स्त्री तथा पुत्र को छोड़कर निकल जाने में गौतम को हिचकिचाहट न हुई। एक रात घोड़े पर सवार होकर महल से दूर सारे वस्त्राभूषण को त्याग साधु-वेश में गौतम जंगल में चले गये और वहाँ सारे प्राणियों के सुख के कारण ढूँढ़ने लगे। कहा जाता है कि गया के समीप जंगल में पीपल के वृक्ष के नीचे उसे प्रकाश (बुद्धत्व) मिला, जिसके बाद उनका नाम बुद्ध हो गया। इसी से नगर का नाम बोधगया तथा पीपल का नाम बोधिवृक्ष पड़ा। बुद्ध ने काशी के समीप सारनाथ में अपना उपदेश प्रारम्भ किया और चारों तरफ शिष्यों को धर्म-प्रचार के लिए भेजा। इसी कार्य को धर्मचक्र-परिवर्तन के

नाम से पुकारते हैं। उन्होंने वैदिक कर्मकाण्ड, पुरोहिताई और परम्परा की निन्दा की।

गौतम बुद्ध

बुद्ध का ढंग मनोवैज्ञानिक था। उनका संदेश सभी के लिए दया तथा प्रेम का था। उन्होंने जीवन के दुख तथा व्यथा पर जोर दिया और उसके निवारण के लिए 'चार सत्य' की शिक्षा दी। दुख के अंत को ही निर्वाण कहा गया है। उनका कहना था कि साधु शरीर को कष्ट देकर सिद्धि नहीं पा सकता या आनंद में डूबे रहने पर भी कोई लाभ नहीं। इसीलिए उनके धर्मोपदेश को मध्यम-मार्ग कहते हैं। वह समय राजनीतिक संघर्ष तथा सामाजिक उथल-पुथल का था। मगध का राजा राज्य-सीमा बढ़ाने के लिए युद्ध कर रहा था। पाटलिपुत्र से अजातशत्रु ने वैशाली के वृज्जि लोगों पर आक्रमण कर दिया था। समाज में ऊँचे तथा साधारण लोगों के बीच एक खाई हो गयी थी।

लोग एक ऐसे रास्ते को ढूँढ़ रहे थे, जिससे मानसिक संतोष हो जाय। इसीलिए जनता ने नये बौद्धधर्म को अपनाया। इससे बुद्धिवाद तथा अनीश्वरवाद की लहरें उठीं। इसमें व्यक्तिवाद के लिए स्थान था। बुद्ध ने सारे समाज को एक सूत्र में बाँधने का प्रयत्न किया। अपने कल्याण से संतुष्ट न होकर सारे समाज को ऊँचा उठाने तथा दुख से दूर करने की सफल कोशिश बुद्ध ने की। उस समय ब्राह्मणों ने महाकाव्य लिखकर दोनों मतों (प्राचीन हिन्दू और बौद्ध) में समन्वय पैदा करने का प्रयत्न किया; परन्तु उन्हें सफलता न मिली।

बौद्धधर्म का विस्तार तेजी से होने लगा। जनता तो इस ओर आकृष्ट हुई ही, स्वयं बुद्ध ने मगध के राजा बिम्बिसार को बौद्ध-धर्म में दीक्षित किया। अपने शाक्यवंशी परिवार को इस धर्म की शिक्षा दी। अन्तिम घड़ियों तक बुद्ध ने इस धर्म के प्रचार में योग दिया और भारतीय सम्राटों ने इसे विदेशों में भी फैलाया।

इसी से मिलते-जुलते जैनमत को महावीर ने सर्वत्र फैलाने का प्रयत्न किया था। महावीर जैनियों को चौबीसवें तीर्थंकर थे। बुद्ध की तरह उन्होंने मोक्ष-प्राप्ति का एकमात्र उपाय बतलाया था कि संसार के माया-जाल से विरक्त हो जाना। जैनमत के तीन रत्नों में सत्य-विश्वास, सत्यज्ञान तथा सत्य-कार्य को स्थान दिया गया था। महावीर भी अपने धर्म के प्रचार के लिए चम्पा, मिथिला, श्रावस्ती, वैशाली तथा राजगृह भ्रमण करते रहे। परन्तु बौद्ध-धर्म की तरह जैन-धर्म लोकप्रिय न हो सका। थोड़े-से लोगों ने इस मत को अपनाया और वही बातें सदियों तक चलती रहीं। अधिकतर व्यावसायिक लोगों ने जैन-मत का अनुसरण किया था। आज भी धनीमानी (व्यवसायीवर्ग) लोगों में ही जैन-धर्म सीमित है। इन

मतों के कारण प्राचीन वैदिक धर्म को धक्का तो जरूर लगा; पर वह नष्ट न हो सका और सभी मत भारत में प्रचलित रहे।

जैन-धर्म तथा बौद्ध-धर्म यद्यपि उपनिषद् के विचारों से पृथक् रहे; परन्तु वास्तव में उसी से निकले थे। दोनों मत अहिंसा पर जोर देते और साधु (भिक्षु) संघ बनाकर रहते थे। बौद्ध-धर्म ने प्रचलित धर्म-विश्वास, कर्मकाण्ड तथा यज्ञों का विरोध किया था। यद्यपि बुद्ध ने वर्ण-व्यवस्था पर सीधा आक्षेप नहीं किया; लेकिन संघ में इसे स्थान नहीं दिया। इस कारण उसे धक्का जरूर लगा। उसके बाद जाति-व्यवस्था कई सदियों तक साधारण रूप में रही। वर्ण-व्यवस्था के विरुद्ध कई बार आवाज उठायी गयी; पर कालान्तर में वह न मालूम क्यों जोर पकड़ती गयी और समाज से हटायी न जा सकी। जैनलोग जाति-पाँति के कट्टर विरोधी न थे, इस कारण स्वयं एक वर्ण बनकर जीवित रहे। जाति-पाँति की व्यवस्था उस समय उतनी संकीर्ण न थी, जितनी आज है।

बौद्ध-धर्म के उदय के लगभग भारत के उत्तर-पश्चिम में फारसी राज्य फैला था। उसी समय एक विदेशी शासक सिकन्दर ने भारत पर आक्रमण किया। उसके बाद भी बहुत-से यूनानी उत्तर-पश्चिमी भाग में निवास करते रहे। उनका कोई गहरा प्रभाव इस देश पर न पड़ सका; परन्तु भारत का विचार विदेशों तक गया। ईसापूर्व चौथी सदी में भारत को विदेशी सभ्यता के प्रभाव से मुक्त करने के लिए चन्द्रगुप्त मौर्य ने एक साम्राज्य की नींव डाली। उसके मन्त्री चाणक्य ने विदेशियों के प्रवेश को रोकने के लिए अफगानिस्तान तक के भूभाग पर मौर्य-राज्य-सीमा विस्तृत करायी और सेल्यूकस से सन्धि करके हिरात तथा कन्धार आदि प्राप्त किये। पाटलिपुत्र को राजधानी बनाकर चन्द्रगुप्त मौर्य ने प्रायः सारे भारत पर साम्राज्य स्थापित किया

था और भारतीय इतिहास में यह सबसे पहला साम्राज्य था, जिसका शासन केन्द्रीय सरकार के हाथ में आया। सारा राज्य प्रान्तों में बँटा था। इतना होते हुए भी पुराने ढंग की ग्राम-व्यवस्था स्वतन्त्र रूप से काम करती रही।

चाणक्य अत्यन्त निपुण था, जिसने मौर्य-साम्राज्य के शासन को एक सुव्यवस्थित ढंग पर चलाया। उसके लिखे अर्थशास्त्र नामक ग्रन्थ के पढ़ने से उस समय की शासन-प्रणाली का पूरा ज्ञान होता है। उसमें राजा की शिक्षा तथा दिनचर्या का वर्णन है। उसकी विदेशी नीति का भी विवरण चाणक्य ने दिया है। उसके कथनानुसार लोगों को विदेश जाने के लिए आज्ञापत्र (पासपोर्ट) लेना पड़ता था। प्रत्येक विभाग के अलग-अलग अध्यक्ष थे। सेना का भी प्रबन्ध सुव्यवस्थित था। यही कारण है कि चन्द्रगुप्त का राज्य-शासन अच्छे ढंग पर चलता रहा।

इस युग का प्रधान शासक अशोक था, जिसने बौद्ध-धर्म को राजधर्म बनाकर इसे भारत के बाहर भी फैलाने का प्रयत्न किया। प्रारम्भ में पितामह चन्द्रगुप्त मौर्य की तरह अशोक राज्य-विस्तार करना चाहता था; लेकिन कलिंग-युद्ध में लाखों व्यक्तियों के मारे जाने के कारण उसने भेरी-घोष को धर्म्म-घोष में परिणत कर दिया। स्वयं बौद्ध बनकर तीर्थ-स्थानों में भ्रमण करने गया और अन्त में भिक्षु भी बना। अशोक के कार्यों का वर्णन उसके चौदह शिलालेखों तथा सात प्रधान स्तम्भ-लेखों से मिल जाता है। उनमें अशोक ने साधारण धर्म की भी व्याख्या की है तथा बौद्ध-धर्म की ओर सबका ध्यान खींचा है। अशोक ने जनता की भलाई के लिए मार्ग तथा धर्मशाले बनवाये, तालाब और कुएँ खुदवाये तथा औषधालय स्थापित किये थे। उसका धर्म-महामात्र नामक अधिकारी धार्मिक कार्यों को देखता था।

था। सम्राट् ने विदेशों में धर्म-प्रचारक भेजे तथा उसके पुत्र और पुत्री दोनों लंका गये थे। अशोक ने धर्म-प्रचार के लिए ही सर्वत्र लेख खुदवाये तथा बौद्धों की सभा बुलवायी थी। यद्यपि ईसवी-पूर्व सदियों में बौद्ध-धर्म को प्रधान स्थान मिल गया था; लेकिन अन्य धर्म भी विकसित होते रहे। सम्राट् अशोक के लेखों में इस तरह का वर्णन मिलता है कि बौद्ध-मतानुयायी अपने मत की उन्नति के लिए दूसरे धर्मों की निन्दा न करें। उस समय ब्राह्मण, जैन तथा आजीविक मतों का भी प्रचार था। अशोक में धार्मिक सहिष्णुता थी; इसलिए किसी मत पर दबाव डालना उसे पसंद न था; वरन् दान के रूप में अन्य धर्मों को सहायता भी दी जाती थी।

बौद्ध-धर्म के प्रचार होने पर भी जाति-भेद समाज से मिट न सका। उस समय अन्तर्जातीय विवाह की प्रथा समाज में प्रचलित हो गयी थी। विधवा स्त्रियों के विवाह का विधान कई अवस्थाओं में नियमित माना जाता था। समाज में कई प्रकार के कारीगर वर्तमान थे और व्यापार करनेवाले वैश्यों का पृथक् समूह बन गया था।

समाज में पढ़ने-लिखने का समुचित प्रबंध था। कलिंग के राजा खारवेल के हाथीगुम्फा-लेख से पता चलता है कि लिखना, पढ़ना तथा हिसाब तो सर्वसाधारण के लिए आवश्यक था। राजकुमारों के लिए न्याय, युद्ध तथा शासन-सम्बन्धी बातें भी बतलायी जाती थीं। कौटिल्य (चाणक्य)-अर्थशास्त्र में उन बातों का उल्लेख मिलता है। अशोक के लेखों से पता चलता है कि शिक्षित-समुदाय पाली-भाषा से परिचित था, जिसके लेखने में दो लिपियाँ—खरोष्ठी तथा ब्राह्मी का प्रयोग किया जाता था। उस समय लिखने की कला को भारतवासी अच्छे रूप में जानते थे।

ईसवी-पूर्व काल में लोगों की आर्थिक अवस्था अच्छी थी।

नंदवंश अपने धन तथा वैभव के लिए प्रसिद्ध था। खेती की ओर भी राजा का समुचित ध्यान था और उसकी वृद्धि के लिए सिंचाई का प्रबंध था। नहरें तथा कुएँ खुदवाये गये थे। व्यापार का कार्य संस्था के हाथों में था, जिससे धन का समुचित बँटवारा समाज में हो जाय। व्यापार-सम्बन्धी सारे कार्य की देखरेख के लिए एक अधिकारी नियुक्त था। आने-जाने के मार्ग बने थे। अशोक ने हजारों मील लम्बी सड़कें तैयार कराकर किनारे पर वृक्ष लगवाये थे, जिससे यात्रियों तथा व्यापारियों को सुविधा हो सके। व्यापार की उन्नति के लिए सिक्के चलाये गये थे। उन्हें कार्षापण के नाम से पुकारते हैं। बोध-गया में एक चित्र खुदा है, जिसमें यह दिखलाया गया है कि जमीन पर सिक्के बिछाये जा रहे हैं। अनाथपिंडक नामक श्रेष्ठी (व्यापारी) सिक्के बिछाकर कुछ जमीन खरीद रहा था। कौटिल्य ने तो रूपाध्यक्ष नामक कर्मचारी का उल्लेख किया है जो सिक्कों की धातु तथा तौल की परीक्षा किया करता था। इस तरह पता चलता है कि मौर्ययुग में लोग धनधान्य से पूर्ण थे। कलाकार उस समय स्तम्भ तथा स्तूप बना अपनी हस्तकला का प्रदर्शन करते थे। उन्होंने जो वज्रलेप (पालिश) का ढंग निकाला था, वह आज तक अद्वितीय माना जाता है।

अशोक युगांतरकारी सम्राट् था। धर्म-विजय में उसे जो सफलता मिली, उससे संसार के इतिहास में अशोक को विशेष स्थान मिला और पश्चिम तथा पूर्व में भारत की ख्याति हुई। अशोक ने राष्ट्र को शक्तिशाली बनाने में अथक परिश्रम किया। संगठित शासन के अतिरिक्त उसने राष्ट्र-भाषा पाली तथा लिपि (ब्राह्मी) को एक स्वरूप देकर उसीका व्यवहार सरकारी लेखों में किया। भारत में धार्मिक एकता स्थापित कर उसने राष्ट्रीय कला को भी प्रोत्साहित किया।

अशोक की धर्म-विजय ने राजनीतिक पिपासा तथा सांसारिक वैभव की भूख को शान्त कर दिया, जिससे साम्राज्य-भावना को गहरा धक्का लगा और अशोक के मरते ही सारा साम्राज्य कमजोर तथा छिन्न-भिन्न हो गया। निर्बलता के कारण ब्राह्मण-धर्म का आन्दोलन दृढ़ हो गया। मौर्यवंश के अन्तिम राजा को मारकर पुष्यमित्र शुंग ने पाटलिपुत्र पर अपना अधिकार स्थापित किया। यद्यपि अशोक ने सहिष्णुता के साथ अन्य मतानुयायियों से व्यवहार किया और सब धर्मों की उन्नति में अपनी उन्नति समझी, पर ब्राह्मण-धर्मावलम्बी शान्त न हो सके। पुष्यमित्र को अगुआ बनाकर बौद्ध-धर्म को मिटाने का प्रयत्न होने लगा। शुंग-राजा ने दो अश्वमेध यज्ञ करके वैदिक पूजा तथा यज्ञ की परम्परा को पुनर्जीवित करना चाहा; पर वह अधिक दिनों तक ठहर न सका। दक्षिण भारत में सातवाहन-राजा ब्राह्मण थे, जो मौर्य लोगों के बाद स्वतन्त्र हो गये। उन्होंने क्षत्रियों को परास्त किया और ब्राह्मण-धर्म को शक्तिशाली बनाया।

यूनानी और शक लोग ईसवी सन् के लगभग उत्तर-पश्चिमी भाग से भारत में आये। यहाँ रहकर उन्होंने भारतीय संस्कृति ग्रहण कर ली। उनके नाम तथा रहन-सहन भारतीय हो गये। ब्राह्मण-धर्म की पुनः स्थापना हो ही गयी थी। परिणाम यह हुआ कि विदेशी वैष्णव-मतानुयायी हो गये।

उस समय गीता का अध्ययन भी समाज में होता था, इसलिए भक्ति की प्रधानता हो गयी। इस भक्ति-मार्ग ने बुद्धमत में विभेद पैदा कर दिया। भक्ति के समर्थक बौद्धों ने एक नयी शाखा चलायी, जो महायान के नाम से प्रसिद्ध हुई। भक्ति के कारण ही कला में परिवर्तन हुए। जहाँ प्रतीक पूजे जाते थे, वहाँ बुद्ध की प्रतिमाएँ बनने लगीं। इसी नये रूप को गांधार-कला के नाम से

पुकारते हैं। भागवतधर्म के अतिरिक्त शैवमत का काफी प्रचार था। उत्तर-पश्चिम भाग में शासन करनेवाले कुषाण-राजा भी उस मत को मानने लगे और शिव की मूर्त्ति अपने सिक्कों पर अंकित करायी।

इतना होते हुए भी कुषाण-राजा कनिष्क बौद्धधर्म को जाग्रत करना चाहता था। उसने अपनी राजधानी पेशावर में बौद्धों की चौथी सभा बुलायी थी; लेकिन बौद्ध लोगों में भेद बना रहा। पुराने बौद्ध अपने को हीनयान अनुयायी मानते रहे, नये को महायान का नाम दिया गया। इन लोगों ने हिन्दूधर्म से प्रभावित होकर पूजा-विधि तथा पहले की भाषा को बदलकर संस्कृत को अपनाया। स्वयं बौद्ध होते हुए भी कनिष्क ने ब्राह्मण-धर्म का काफी आदर किया। सिक्कों पर शिवकी मूर्ति तथा महेश शब्द लिखा मिलता है।

कनिष्क के कारण ही भारतवासी मध्य-एशिया तक प्रचार के लिए गये और चीन से बौद्ध-यात्री शिक्षा के लिए यहाँ आये। कनिष्क बौद्ध-युग का अन्तिम राजा माना जाता है। बौद्धधर्म की रक्षा के लिए अनेक उपाय किये गये; परन्तु कनिष्क के बाद उसका ह्रास होने लगा। फिर भी, भारतीय समाज पर इसका प्रभाव इतना सर्वव्यापी हो गया था कि साहित्य, शिक्षा, कला आदि सांस्कृतिक अंगों से इसे हटाना आसान न था। भारत से बाहर देशों में तो बौद्धधर्म विकसित होता गया; पर घर में इसकी लोकप्रियता जाती रही। यहाँ के राजाओं ने भी ब्राह्मण-धर्म को अपनाया। भीतर विरोध के कारण ही बौद्धधर्म के स्थान पर दूसरे मत आ गये।

उस समय भारत के सामने नई जातियों की सभ्यता तथा हमारे देश की पुरानी संस्कृति में समन्वय करने का सवाल था। इसलिए विदेशी जातियों को आर्य-संस्कृति ने मिला लिया। इतना होने पर

भी विदेशी हमलों के कारण पुराने ब्राह्मण-क्षत्रिय बार-बार देश की संस्कृति की रक्षा के लिए मजबूर किये गये। उनमें समन्वय के बदले विरोध की भावना पैदा हो गयी और सभी आनेवालों को इस विरोध का सामना करना पड़ा। कुषाण-वंश के बाद वाकाटक तथा नागवंशी राजाओं ने पुराने हिन्दू-धर्म को विकसित करने का प्रयत्न किया।

नाग लोगों के पहले भारतीय कला के अध्ययन से प्रकट होता है कि ब्राह्मण-धर्म की विकासावस्था में भी बौद्धधर्म काफी व्याप्त था; यह अवश्य है कि समाज में वह ह्रास की अवस्था में था। शुंग अथवा सातवाहन–दोनों काल में बौद्ध प्रतिमाएँ अधिक संख्या में बनती रहीं। सांची, भरहुत तथा अमरावती की कला बौद्ध है। सातवाहन युग में चैत्यगृह (मंदिर) तथा लेण (भिक्षु-गृह) बौद्धधर्म के प्रचार के द्योतक हैं। हाँ, कुषाण-काल में कुछ प्रोत्साहन मिलने से मथुरा-कला भी बौद्ध-प्रधान रही; पर इसका यह अर्थ नहीं कि हिन्दू अथवा जैन-मूर्त्तियों का अभाव था। भारशिव-नरेशों ने शैवमत को ही राजधर्म बनाया, जिसके बाद ब्राह्मण-धर्म क्रमशः विकसित होता गया।

जहाँ तक समाज का प्रश्न है, वर्ण-व्यवस्था पूर्णरूप से विकसित हो गयी थी। मनुस्मृति की रचना उसी काल में हुई थी, जिसमें सारे वर्णाश्रमों का विस्तृत वर्णन मिलता है। समाज में सब प्रकार के लोग थे। व्यापार तथा खेती के कारण देश धन-धान्य से परिपूर्ण था। शिक्षा-कार्य बड़े पैमाने पर होता था। तक्षशिला तथा पांचाल में विद्यालय कार्य कर रहे थे। धार्मिक तथा सांसारिक विषयों का अध्यापन आरम्भ हो गया था। तक्षशिला धनुर्वेद तथा आयुर्वेद की शिक्षा के लिए विख्यात थी। चिकित्सा-शास्त्र का प्रवर्तक चरक वहीं पर अध्यापक था। कहा जाता है कि

भारत के कोने-कोने से लोग विद्याभ्यास के लिए तक्षशिला जाया करते थे। तत्कालीन लेखों से पता चलता है कि उत्तर-पश्चिम प्रांत में खरोष्ठी लिपि तथा अन्य भागों में ब्राह्मी लिपि का प्रयोग किया जाता था। पर सबकी भाषा प्राकृत थी। व्यापार मध्य-एशिया, एशिया के पश्चिमी देश तथा पूर्वी द्वीपसमूह से होता था और मध्य-एशिया, इंडोनेशिया तथा हिन्द-चीन में भारतीय उपनिवेश बन गये थे।

चौथी सदी के बाद गुप्तों का साम्राज्य भारत में स्थापित हो गया। चाणक्य की नीति छोटे राज्यों को जीतकर केन्द्रीय साम्राज्य स्थापित करने की थी। अतएव चन्द्रगुप्त प्रथम के समय में ही लिच्छवि लोगों से बहुत-सा भू-भाग साम्राज्य में मिला लिया गया था। समुद्रगुप्त ने तो सारे भारत में दिग्विजय कर हिन्दू-धर्म की आवाज बुलन्द की और ब्राह्मण-धर्म को पुनर्जीवित करने के लिए पूजा-पाठ तथा यज्ञ आरम्भ किये। सम्राट् समुद्रगुप्त ने दिग्विजय के अन्त में अश्वमेध यज्ञ किया था, जिसका प्रत्यक्ष प्रमाण दृश्य 'अश्वमेध सिक्कों' पर दिखलाई पड़ता है। उस समय पश्चिमी भारत में शक राज्य करते थे। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने शकों को परास्त कर देश को विदेशी चढ़ाई के भय से मुक्त किया और उन्हें हिन्दू-धर्म में ले लिया। गुप्तकालीन शासन-प्रणाली तो प्राचीन ढंग की थी, जिसमें साम्राज्य प्रांतों में बँटा था और गाँवों में प्रजातंत्र शासन प्रचलित था। राजा की सहायता के लिए मंत्रिगण नियुक्त थे। कायस्थ नामक नयी जाति पैदा हो गयी थी। लोग व्यापार से तथा खेती से धन पैदा करते थे। व्यापार में कीमती वस्तुएँ बाहर भेजी जाती थीं। जल तथा स्थल दोनों मार्ग काम में लाये जाते थे।

गुप्तकाल में सामाज में शिक्षा देने के लिए बड़े-बड़े महाविहार कायम हो गये थे। नालंदा का विश्वविद्यालय सर्वत्र प्रसिद्ध था।

चीन से भी पढ़ने के लिए बौद्ध वहाँ आते थे। दस हजार की संख्या में विद्यार्थी वहाँ अध्ययन करते थे। बौद्ध तथा ब्राह्मण-ग्रंथों का अभ्यास सभी करते, ताकि दूसरे के साथ शास्त्रार्थ-कर सकें। कोई ऐसी विद्या न थी, जिसकी पढ़ाई नालंदा में न होती हो। जहाँ तक भाषा का सम्बन्ध है, सभी संस्कृत-माध्यम से ही पढ़ते तथा लिखते थे। लिपि भी ब्राह्मी से विकसित होकर गुप्त-लिपि के नाम से पुकारी जाती थी।

धर्म के कट्टर पक्षपाती होते हुए भी गुप्त-राजाओं ने बौद्ध-राजाओं की तरह विदेशों में धर्म-प्रचार की ओर ध्यान नहीं दिया। उनका धर्म अंतर्जातीय न था। उनका समाज पुराने ब्रह्मण-धर्म का प्रतीक था। आश्चर्य है कि बौद्धधर्म के ह्रास और ब्राह्मण-धर्म के विकास के ऐसे युग में बौद्ध प्रतिमाओं की ही प्रधानता थी, यद्यपि पौराणिक देवों की मूर्तियों के बनने का श्रीगणेश हो गया था। उनमें सूर्य, गणेश, दुर्गा, विष्णु तथा शिव पंचदेव के नाम से पूजित थे। देवताओं के मंदिर बनने लगे। गुप्तकालीन दानपत्रों के देखने से ज्ञात होता है कि गुप्त-नरेश देवताओं की विधिपूर्वक पूजा के लिए भूमि-दान देते थे। कला तथा साहित्य चरम सीमा को पहुँच गये थे। इसी युग में कालिदास ने अनेक ग्रंथों की रचना की। ज्योतिष में आर्यभट्ट तथा वराहमिहिर आदि विद्वानों ने विज्ञान की उन्नति की थी। उन्होंने सबसे पहले बतलाया था कि पृथ्वी अपनी धुरी पर घूमती है। अंक लिखने के लिए दशमलव सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया। इस तरह विज्ञान के प्रत्येक अंग पर विद्वानों ने कार्य किये। कलात्मक ज्ञान भी ऊँची श्रेणी का था। प्रतिमाओं, मंदिरों तथा सिक्कों पर जो कारीगरी दिखलाई पड़ती है, वह उच्च कोटि की है। इन्हीं कारणों से गुप्त-काल को स्वर्णयुग कहा गया है।

डेढ़ सौ साल तक राज्य करने के पश्चात् गुप्त-नरेश शक्तिशाली हुकूमत की रक्षा भी न कर सके। उनका साम्राज्य सिमटता गया और थोड़े समय में ही मध्य-एशिया के हूण लोगों ने गुप्तराज्य पर चढ़ाई कर दी। मध्य-भारत के राजा यशोधर्मन ने सब लोगों की सहायता से सफेद हूणों को हरा दिया और उनको वापस लौटाया। इतिहास के जाननेवालों से यह बात छिपी नहीं है कि सफेद हूण शैव-मत को मानते थे, जिसके निशान उनके सिक्कों पर मिलते हैं। उन्होंने राज्य कायम करके भी अपना अस्तित्व खो दिया और अन्त में भारतीय जनसमुद्र में विलीन हो गये।

विक्रमादित्य के बाद ही राष्ट्रीयता की भावना में कमी आने लगी। गुप्त-साम्राज्य के स्थान पर अनेक छोटे-छोटे राज्य उदय हो गये, जो आपसी झगड़े में फँसे रहते थे। राष्ट्रीय चेतना का अन्त होते-होते देश तथा समाज के टुकड़े-टुकड़े हो गये। सातवीं सदी में कन्नौज के राजा हर्षवर्धन ने सारे भारत में पुनः संगठित शक्तिशाली राज्य कायम करने का प्रयत्न किया था; परन्तु वह भावना सफल न हुई।

हर्ष की धार्मिक नीति समन्वय की थी। वह देश में एकच्छत्र राज्य काम कर प्राचीन संस्कृति को जाग्रत करना चाहता था। इसलिए प्रयाग में सब धर्मों तथा राजाओं का सम्मेलन करता था, जिसमें आसाम से लेकर सौराष्ट्र तक के लोग सम्मिलित होते थे। अन्तिम समय में बौद्ध होकर भी वह हिन्दू-धर्म की सहायता करता रहा; लेकिन हर्ष के पश्चात् वह विचारधारा समाप्त हो गयी। राजनीतिक झगड़ों के आगे सांस्कृतिक कार्य रुक गये। बंगाल में छोटे दायरे में पाल तथा सेन-नरेश देशोन्नति की ओर लगे रहे तथा उन्होंने अपने राज्य में साहित्य एवं कला का सृजन किया।

भारत की फूट और कलह की चर्चा पश्चिमी एशिया तक फैल गयी। इस्लामी उत्थान के कारण मुसलमान अन्य देशों पर

आक्रमण करने लगे थे। भारत की भी वारी आयी। अरव सागर पर तो उसका प्रभुत्व था ही; मुसलमान सिन्ध की भूमि पर उतरे और अगली शताब्दियों में अपना प्रभाव फैला दिया। राजपूत-शासकों में राष्ट्रीयता की उच भावना नहीं थी ; इसलिए सबों ने एक साथ उनका मुकाविला नहीं किया। परिणाम यह हुआ कि विदेशियों का सारे भारत पर धीरे-धीरे राज्य फैलता गया।

तलवार के वल इस्लाम-धर्म के आगमन का वहुत ही जवर्दस्त प्रभाव पड़ा हिन्दू-धर्म पर। नये विदेशियों के धर्म-प्रेम ने यहाँ के राजाओं और समाज को कट्टर धर्म-प्रेमी वना दिया। हिन्दू-समाज में शुद्धि की प्रथा निकल आयी, जिसके कारण विधर्मी वनाये गये हिन्दू पुनः अपने धर्म में मिला लिये जाने लगे। और, उत्तर में राजपूताना और दक्षिण में विजयनगर के राजाओं ने तो वाद में चलकर हिन्दू-धर्म की रक्षा करना अपना प्रधान कर्त्तव्य ही मान लिया। वहुत वाद में नये-नये पंथ जो निकले, वे इस्लाम-धर्म के वढ़ते हुए प्रभाव से हिन्दू-धर्म को वचाने के लिए ही।

इस प्रकार भारतीय जीवन में हिन्दू और इस्लामी दो विभिन्न समाजों का जन्म हुआ, जिनका संपर्क एक-दूसरे से कम था, यद्यपि साथ-साथ रहकर एक-दूसरे को वे प्रभावित करते रहे।

हमारा गौरव तथा वैभव

ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में वर्णन आता है कि प्रत्येक जीव में महान् शक्ति वर्तमान है। सब जीवात्मा अमर हैं। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। यही आधार लेकर समाज को ऐसा बनाया गया, जिससे सभी ध्येय वस्तुओं को प्राप्त कर सकें। सर्वप्रथम आर्यों ने पूरे समाज को तीन वर्णों में विभक्त किया था। समाज के इसी विभाजन को वर्ण-व्यवस्था के नाम से अभिहित किया गया है। यह भारत की सबसे पुरानी संस्था है। इतिहास से पता चलता है कि भारतीय संस्कृति के मूल-स्तम्भ—वर्ण-व्यवस्था को कोई न गिरा सका। समय-समय पर उसमें परिवर्तन हुए; पर उसका मूल सिद्धान्त ज्यों-का-त्यों है। आज भारतीय समाज में विभेद तथा पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष के कारण जातियों में संगठन की कमी दिखाई पड़ती है; परन्तु प्राचीन काल में ऐसी बात न थी। सभी जातियों के मेल और सहयोग से समाज आदर्श-स्वरूप बना रहा।

उत्तर वैदिक काल के पश्चात् 'वर्ण' शब्द जाति का बोधक हो गया। मनुस्मृति में ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य को 'द्विज' नाम से सम्बोधित किया गया है। मनु आदि ऋषियों ने ईसवी सन्-पूर्व से ही चारों वर्णों का पृथक्-पृथक् सामाजिक स्थान और कार्य निर्दिष्ट कर दिया था। महाभारत-काल में चारों वर्णों के लोग

राजसभा के सदस्य होते थे। यद्यपि बौद्ध और जैनधर्मों के प्रभाव से वर्ण-व्यवस्था को गहरा धक्का लगा था, तथापि उसका अस्तित्व बना रहा। हिन्दू-धर्म के पुनरभ्युदय से इस संस्था की फिर उन्नति हुई। चौथी सदी से वर्ण-व्यवस्था पूरी विकसित हो गयी थी और उपजातियाँ भी बनने लग गयी थीं। गुप्त-काल में समाज चार जातियों में विभक्त हो गया था और सभी लोग आश्रमों का पालन करते थे। यूनानी दूत मेगास्थनीज ने प्राचीन वर्णाश्रम-धर्म का चित्र खींचा है। ब्राह्मण तथा श्रमण एक ही श्रेणी में रक्खे गये थे। वह लिखता है कि ब्राह्मण ब्रह्मचर्य का पालन करते तथा गम्भीर तत्त्वों पर उपदेश देते थे। उनका आहार निरामिष था। उनकी पद-मर्यादा सर्वोच्च थी। उनकी संख्या कम थी। श्रमण योगी कहे जाते थे। दूसरी श्रेणी क्षत्रिय और राजागण की थी। राजा दिन भर न्याय करता था। युद्ध के समय खेती को कोई नष्ट न करता और लोगों के सताये जाने का नाम तक न था। समाज में कृषक-वर्ग की अधिक संख्या थी। वे निर्भय होकर खेती किया करते; परन्तु खेती का अधिकांश भाग शूद्रों के हाथ में था। मेगास्थनीज के कथन से पता चलता है कि साढ़े बाईस सौ वर्ष पूर्व भारत में वर्ण-व्यवस्था दृढ़ रूप से प्रतिष्ठित थी।

समाज में ब्राह्मणों का सबसे अधिक आदर था। वे व्यवहार-कुशल और विद्वान् थे। उनके हाथ में शासन की बागडोर थी। शुद्ध आचरण के कारण वे समाज के अगुआ बन गये थे। अन्य तीन वर्ण उनकी प्रधानता स्वीकार करते थे। प्रजा के हित के लिए ब्राह्मण राज्य-कार्य में कुछ कम हाथ नहीं बँटाते थे। प्राचीन समय से ही पुरोहित प्रधान व्यक्तियों में गिना जाता था। इस प्रकार ब्राह्मण पुरोहित अपनी आध्यात्मिक शक्ति द्वारा अदृष्ट बाधाओं को दूर करता और अपनी शारीरिक शक्ति द्वारा राष्ट्र

की विपत्तियों के नाश करने में भी संलग्न रहता था। देश में विद्या-प्रसार तथा शिक्षा-कार्य का भार ब्राह्मणों पर ही था। वे शिष्यों की भिक्षा-वृत्ति से ही अपनी जीविका चलाते और अपना जीवन परोपकार में ही व्यतीत करते थे। छः सौ ईसवी के बाद इस जाति में भिन्न-भिन्न उप-जातियाँ बनने लगीं। उनमें पढ़ने-पढ़ाने की संकीर्णता जाती रही। किसी भी व्यक्ति का शिक्षालय में स्वागत किया जाता था। वे स्वयं तिब्बत और चीन का निमंत्रण पाकर विदेशों में भी गये थे।

समाज में ब्राह्मणों के बाद क्षत्रियों का भी ऊँचा स्थान था। विष्णुस्मृति के अनुसार इनका मुख्य कर्त्तव्य प्रजा-पालन था—'क्षत्रियस्य परमो धर्मः प्रजानां परिपालनम्।' राज्य-प्रबन्ध में इन्हीं का प्रधान हाथ था। पुराने समय में क्षत्रिय के लिए राजन्य शब्द का प्रयोग होता था। बौद्धकाल में क्षत्रियों की प्रधानता थी और वे ब्राह्मण से भी उच्च समझे जाते थे। बौद्ध और जैन-साहित्य में क्षत्रियों की ही प्रधानता बतलायी गयी है और यह भी लिखा है कि धर्म-प्रवर्त्तक क्षत्रिय-कुल में ही पैदा होते हैं; क्योंकि बुद्ध तथा महावीर क्षत्रिय थे। बौद्ध-काल के बाद क्षत्रियों की इतनी प्रधानता नहीं रही। क्षत्रियों में विद्या का काफी प्रचार था और अनेक राजा विद्वान् एवं पण्डितों के आश्रयदाता रहे हैं। क्षत्रिय दिल खोलकर ब्राह्मणों को दान दिया करते। यही कारण था कि अध्यापक-वर्ग को अपनी जीविका की चिन्ता नहीं करनी पड़ती थी। राजाओं ने मन्दिर बनवाये, सदावर्त्त चलाया और शिक्षा-संस्थाएँ स्थापित कीं।

तीसरा वर्ण वैश्यों का था, जिनका प्रधान कर्म वाणिज्य था। इन्होंने भारत से बाहर चीन और अफ्रिका तक व्यापार के निमित्त यात्रा की। उन देशों से आवागमन जारी कर उपनिवेश बसाया

और वहाँ भारतीय संस्कृति का विस्तार किया। देश का वैभव—धन-धान्य उन्हीं के कार्यों पर निर्भर था। वैश्य-जाति के व्यापारिक समूह को श्रेणी का नाम दिया गया था। उनके द्वारा धन का बराबर बँटवारा हो जाता था और पूँजीपति का नाम तक न था। श्रेणी के कार्य और नियमों का वर्णन स्मृतियों में मिलता है। फाहियान ने लिखा है कि जनपद के वैश्यों के मुखिया नगरों में औषधालय तथा सदावर्त स्थापित करते थे। प्राचीन लेखों के अध्ययन से पता चलता है कि व्यापारी-गण नगर के शासन में राजा की सहायता किया करते थे। वैश्य-समुदाय इस प्रकार समाज के विभिन्न कार्यों में सम्मिलित होता था। पूर्व-मध्यकाल में विभिन्न कार्यों के आधार पर वैश्य-जाति में उपजातियाँ बनने लगीं। कर्मकार, मणिकार, वणिक उपजातियाँ प्रसिद्ध हो गयीं।

आज कायस्थों की भी गणना द्विजाति में होती है। यद्यपि वैदिक काल में ऐसी जाति का नाम नहीं मिलता, परन्तु चौथी सदी से जो व्यक्ति राज्य में लेखक का काम करते, उन्हें कायस्थ कहा जाता था। यह नाम पद के कारण दिया गया था। यह कहना कठिन है कि वह लेखक (कायस्थ) किस जाति के वंशज थे; परन्तु समयान्तर में इस पेशेवालों की एक उपजाति बन गयी, जो आज प्रधान जातियों में गिनी जाती है। वर्ण-व्यवस्था के अन्तिम वर्ग का नाम शूद्र था। इनका मुख्य कर्त्तव्य द्विज मात्र की सेवा करना था। आजकल की तरह यह वर्ण अस्पृश्य नहीं समझा जाता था। समाज में शूद्र लोग सेवा-कार्य से हटकर दूसरे कामों में लग गये। इस तरह कृषि, वाणिज्य तथा कारीगरी शूद्रों के हाथ में आ गयी। सातवीं सदी के बाद विभिन्न कार्यों के अनुसार शूद्रों में भेद हो गया और नीच काम करनेवाले अस्पृश्य कहलाये। चीनी यात्री ह्वेनसांग ने लिखा है कि चतुर्थ जाति शूद्रों की थी, जो कृषिजीवी

थी। चारों जातियों में शुद्धता तथा अशुद्धता का स्थान निश्चित था। शूद्र तथा अन्त्यज पृथक् जातियों में परिगणित होते थे।

भारतीय समाज की विशेषता संस्कार तथा आश्रमों के इतिहास जानने पर प्रकट हो जाती है। ऋषियों ने इन संस्कारों को सोलह अवसरों पर मानने का विधान किया है। जीव के गर्भ में आने से ही वह मनुष्य-योनि में आ जाता है। अतएव उस व्यक्ति की सूक्ष्म दशा से ही संस्कार आरम्भ होता है। उसे गर्भाधान संस्कार कहते हैं। पैदा होने, नाम रखने के समय, अन्न खाने के समय भी विभिन्न रीति से शास्त्रानुकूल संस्कार मनाये जाते हैं। चूड़ाकरण भी एक प्रधान संस्कार माना गया है। यज्ञोपवीत तथा विवाह-जैसे शुभ अवसरों पर आनन्द मनाया जाता है। यहाँ तक कि मनुष्य की मृत्यु को भी अन्तिम संस्कार माना है। इस प्रकार जन्म से लेकर मृत्यु-पर्यंत समाज में सोलह संस्कार मनाये जाते हैं। भारत की यह पद्धति संसार में विशेष स्थान रखती है। आजकल उनका प्रतीकमात्र रह गया है।

भारतवासियों के जीवन का मुख्य ध्येय मोक्ष की प्राप्ति माना गया है। इसकी प्राप्ति के लिए चारों आश्रमों का पालन किया जाता था। ब्रह्मचर्य का पालन कर तथा विद्यालाभ कर वह व्यक्ति गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता था। वृद्धावस्था में वानप्रस्थ में प्रवेश कर ज्ञान प्राप्त करता तथा वह संन्यासी होकर मोक्ष-प्राप्ति के लिए उपाय करता था। मनुष्य-जीवन में चारों आश्रमों का यह ऐसा मार्ग है, जिसके द्वारा मनुष्य अपने मानसिक चिंतन की अपवित्रता तथा अहं-भाव को छोड़कर आत्मा को ऊँचा उठा सकता है। इसमें मनुष्य के जीवन का पूरा इतिहास छिपा है। सभी आश्रमों में गृहस्थाश्रम सबसे कठिन माना गया है। मनु तथा वशिष्ट-स्मृतियों में इसी आश्रम को सबसे उत्तम माना गया है। स्मृतिकारों का मत है कि

अन्य आश्रमवाले गृहस्थ से ही भोजन पाते हैं। यह आश्रम शरीर की रीढ़ मानी गयी है, जिससे समाज में प्रत्येक व्यक्ति सुखी रह सकता है। ब्राह्मण-धर्म-ग्रन्थों में तो इस बात को मना किया गया है; लेकिन बौद्ध-ग्रन्थ जातकों में उल्लेख मिलता है कि पढ़ने के बाद नवयुवक सीधे संन्यास ग्रहण कर सकता था। चूँकि बौद्ध लोग निवृत्ति-प्रधान सिद्धान्त के माननेवाले थे; इस कारण उनका कहना सर्वथा उचित था। प्राचीन समय की ऐतिहासिक घटनाओं का अध्ययन यह बतलाता है कि भारत में चारों आश्रमों को क्रमशः पालन करने की परिपाटी थी।

समाज में आमोद-प्रमोद की सामग्रियों का उल्लेख साहित्य में मिलता है। कला में भी उनके उदाहरण पाये जाते हैं। प्राचीन ग्रन्थों में वर्णन मिलता है कि लोग पक्षी पालने का शौक रखते थे। शुक, सारिका, मोर, हंस आदि लोग पालते थे। रथ की दौड़ तथा जानवरों की लड़ाई भी आमोद-प्रमोद के साधन माने जाते थे। नृत्य तथा गाने का कम महत्त्व न था। लेखों में ऐसा वर्णन आता है कि शासक संगीत में निपुण थे। मुद्रा पर राजा वीणा बजाते दिखलाये गये हैं। सम्भवतः ये कार्य उत्सवों पर सम्पन्न किये जाते थे। सामूहिक यात्रा, सामाजिक गोष्ठी, उद्यान-भ्रमण तथा समस्या-क्रीड़ा आदि उत्सवों का वर्णन प्राचीन ग्रन्थों में किया गया है। अशोक के शिलालेखों में ऐसी क्रीड़ाओं, उत्सवों तथा समाज का उल्लेख पाया जाता है। चीनी यात्री फाहियान ने पाटलिपुत्र में रथ-यात्रा का वर्णन किया है।

किसी जाति के सांस्कृतिक इतिहास में पहनावा भी एक विशिष्ट स्थान रखता है। समाज में व्यक्ति विशेष के अनुरूप वस्तु का व्यवहार होता था। वैदिक साहित्य में वासस् शब्द का प्रयोग मिलता है जिसे निवि (लंगोटी) या अधोवस्त्र भी कहते थे।

पुराने समय की जितनी मूर्तियाँ मिली हैं, उनमें धोती पहने व्यक्ति की आकृति बनी है। धोती की लम्बाई कम न होने पर भी बाँधने के कारण लंगोटी मालूम पड़ती है। पर धोती बाँधने के लिए स्त्री-पुरुष मेखला का प्रयोग करते थे। वह घुटने तक पहुँचती थी। गृहस्थ साधारणतया धोती तथा चादर का प्रयोग करते थे। पटना और पारखम की मूर्तियों में धोती-चादर स्पष्ट दिखलाई पड़ी हैं, जिसमें अग्र भाग में गाँठ मौजूद है। उत्सवों पर लोग पगड़ी भी बाँधते थे। प्राचीन स्त्री की प्रतिमाओं में कहीं-कहीं पगड़ी दिखलाई पड़ती है। गाँधार, मथुरा तथा सारनाथ - कला में ऐसे उदाहरण मिलते हैं। गुप्त-राजाओं के सिक्कों पर धोती पहने राजा अंकित हैं। कनिष्क की जो मूर्ति मिली है उसमें वह अचकन (शिरवानी) पहने दिखलाया गया है। कंकाली टीले तथा बाग-गुफाओं में जो चित्र मिले हैं, उनमें स्त्रियाँ साड़ी तथा चोली पहने दिखाई गयी हैं। इस तरह नाना प्रकार के वस्त्रों का प्रयोग समाज में होता था।
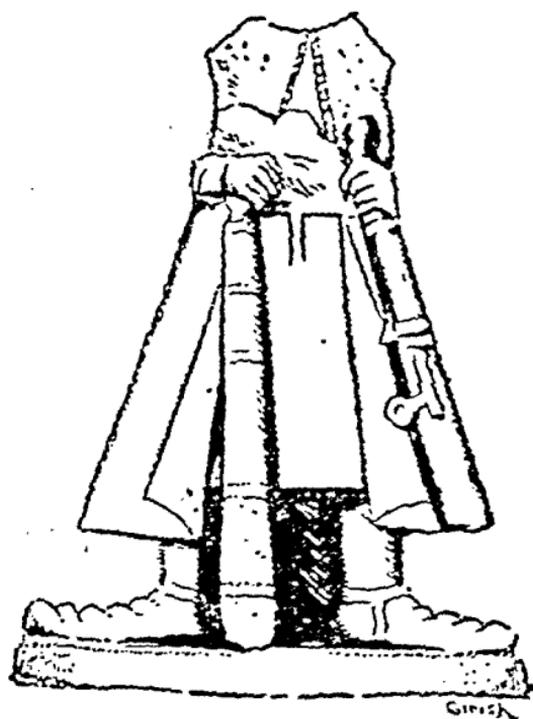
कनिष्क की एक प्राप्त मूर्ति

वस्त्र के साथ शरीर को सुन्दर बनाने के लिए आभूषण तथा अन्य सामग्रियों का प्रयोग किया जाता था। मूर्तियों में तथा प्राचीन चित्रों (अजंता तथा बाग की

गुफाओं) में स्त्रियों के केश-विन्यास के अनेक उदाहरण मिलते हैं। ईसवी पूर्व सदियों में ऐसी मूर्तियों में बाल पीछे गाँठ देकर बाँधे जाते थे।

सब लोग रुचि के अनुसार भोजन करते थे। खाद्य वस्तुओंमें घी, दूध, गेहूँ तथा फल का अधिक प्रयोग होता था। हिसाब लगाकर देखा गया है कि अठाईस रुपये में एक व्यक्ति पूरे वर्ष भर निर्वाह कर लेता था। इस अल्प व्यय से यही कहा जा सकता है कि भोजन-सामग्री अत्यन्त सस्ती थी। ब्राह्मणों के अतिरिक्त माँस-मदिरा का व्यवहार प्रायः सभी जातियों के लोगों में होता था।

समाज में स्त्रियों की स्थिति के विषय में कई बातें कही जा चुकी हैं। "पुरा काले तु नारीणां मौञ्जी वन्धनमिष्यते।" के उल्लेख से ज्ञात होता है कि पुराने समय में बालिकाओं का यज्ञोपवीत-संस्कार किया जाता था। विवाह की आठ रीतियों की चर्चा स्मृति यों में की गयी है। जिनमें चार उत्तम माने गये हैं—ब्राह्म, दैव, आर्ष और प्राजापत्य। गांधर्व विवाह को बुरा नहीं समझा जाता था। अन्तर्जातीय विवाह तथा विधवा-विवाह के उदाहरण भी मिलते हैं। स्त्रियाँ समाज में पुरुषों की तरह भाग लिया करती थीं। परदे की प्रथा नहीं थी। पति के मरने पर वे सती भी हो जाती थीं। समाज में उनका समुचित आदर था। उनकी व्यक्तिगत सम्पत्ति को 'स्त्रीधन' कहते थे। स्मृतिकारों ने उत्तराधिकार के मामलों में स्त्रियों की भी गणना की है। पुत्र के अभाव में पत्नी अपने पति की सम्पत्ति की उत्तराधिकारणी समझी जाती। इस प्रकार समाज में स्त्रियों को पुरुषों से घटकर स्थान नहीं दिया गया था। यही कारण था कि समाज समुन्नत हो सका।

यद्यपि भारतवर्ष के आर्थिक इतिहास का विवरण लम्बा है; पर यहाँ उसके मुख्य पहलू को जान लेना जरूरी है, जिससे हम अपने

वैभव को समझ सकें। भारतवर्ष को धन-धान्य से पूर्ण समझकर विदेशी आक्रमण करते रहे। अरब-फारसवालों ने तो इसे सोने की चिड़िया माना था। पुराने समय में भारतवर्ष से व्यापार स्थल तथा जल-मार्गों से हुआ करता था। देश-देश में सड़कों द्वारा सभी केन्द्र सम्बन्धित थे। प्राचीन शासकों ने इसीलिए सड़कों के बनाने में काफी धन व्यय किया था। पाटलिपुत्र से मार्ग दक्षिण-पश्चिम, पूरब तथा उत्तर-पश्चिम को जाया करते थे—पाटलिपुत्र से कौशाम्बी (प्रयाग के समीप), उज्जयिनी तथा माहिष्मती (नर्मदा के किनारे स्थित) होकर पश्चिमी बन्दरगाह तक, सुव्यवस्थित मार्ग पूरब की ओर बंगाल की खाड़ी में स्थित ताम्रलिप्ति नामक बन्दरगाह तक, गंगा नदी द्वारा सामान के आवागमन की व्यवस्था थी।

उत्तर-पश्चिम का मार्ग तो सर्वप्रसिद्ध था, जिससे होकर सिकन्दर ने चढ़ाई की तथा अशोक के धर्म-प्रचारक योरप तक गये। इस मार्ग से होकर व्यापारीगण एशिया के पश्चिमी देशों में भारतीय माल बेचने के लिए जाया करते थे। भारत की सामग्री का प्रयोग ऊँची श्रेणी के लोग किया करते थे। चीन से लेकर अफ्रिका तक भारत का सामुद्रिक व्यापार प्राचीन समय से ही चला आ रहा था। अत्यंत प्राचीन समय में व्यापार एक संस्था के हाथ में था; परन्तु कुषाण के समय से राजा का ध्यान व्यापार की ओर गया। कनिष्क के समय में मध्य एशिया तक भारत के व्यापारी जाते थे। इसलिए राजा ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की वृद्धि के लिए सोने के सिक्के तैयार कराये। उसी के बाद शासकों ने व्यापार की ओर उचित ध्यान दिया और देश की आर्थिक स्थिति उत्तरोत्तर बढ़ती गयी। जहाँ तक जल-मार्ग का संबंध है, भारतीय व्यापारी जहाजों पर माल लेकर अफ्रिका के पूर्वी किनारे तथा पूरब में द्वीप-समूह होते चीन तक जाया करते थे। भारतवासी पोत-निर्माण की कला को अच्छी तरह जानते थे।

सातवीं सदी के बाद पासा पलटा। अरबवाले हिन्द महासागर में भारत के जहाजी बेड़े पर धावा करने लगे। जल-डाकुओं के आतंक से सारा व्यापार नष्टप्राय हो गया; पर क्रमशः अरब-व्यापारियों के हाथ में सारा व्यापार आ गया। उनका प्रभाव सर्वप्रथम भारत के पश्चिमी किनारे पर पड़ा, जहाँ वे आकर ठहरने लगे। दसवीं सदी के बाद वे धीरे-धीरे हिन्द महासागर होकर पूर्वी द्वीप-समूह में भी पहुँच गये।

अपने वैभव की बातों को पूरा करने के लिए प्राचीन भारत में प्रचलित सिक्कों की कथा जाननी जरूरी है। पुराने समय में हमारे देश में चाँदी के सिक्के अधिक संख्या में चलते थे। उसका नाम कार्षापण था। इसे सुनार या व्यवसायी तैयार किया करते थे। सिक्के का इतिहास पढ़ने से पता चलता है कि पहले अदल-बदल से समाज में सब काम होते थे; परन्तु व्यापार की उन्नति के लिए धातु के सिक्कों का होना जरूरी समझा गया। जो गैरसरकारी लोगों द्वारा सिक्के बनते थे, उनपर कई प्रकार के चिह्न मिलते हैं। कार्षापण कई शताब्दियों तक चलता रहा। बाद में चलकर राजाओं ने इस बात का अनुभव किया कि सिक्का तैयार करने का काम राजा के हाथ में होना चाहिए। इसलिए सिक्के ढालने के लिए साँचे तैयार किये गये।

हमारे साहित्य में सोने के सिक्कों के भी नाम (निष्क, शतमान या सुवर्ण) मिलते हैं; भारत में कुषाण-वंश के राजा वीम ने सिक्का तैयार कराया, जो सोने का था और उसपर एक ओर राजा की आकृति बनी थी। इस तरीके को आगे चलकर कई राजाओं ने भी माना और हमारे यहाँ सिक्के बनने लगे। उन सोने के सिक्कों की तोल १२० ग्रेन थी, जो रोम के अनुकरण पर बना था। इनमें विदेशी बातें अधिक थीं। राजा के वस्त्र से लेकर लेख लिखने

की भाषा तथा लिपि तक में विदेशीपन ही दिखाई पड़ता है। कुषाण-राजा कनिष्क सहिष्णु था; इसलिए उसने हिन्दू, ईरानी, यूनानी देवताओं को अपने सिक्कों पर स्थान दिया था।

चौथी सदी में गुप्तवंश के उदय होने से भारतीय राजनीति तथा आथिक स्थिति में परिवर्तन हो गया। गुप्त-नरेशों ने पहले पिछले कुषाण-सिक्कों के अनुकरण पर स्वर्ण-मुद्राएँ निकाली थीं, जिनमें ईरानी ढंग पर लम्बा अचकन तथा पायजामा पहने राजा की आकृति बनी है; लेकिन उससे जब संतोष नहीं हुआ तो उन्होंने उसमें नयी बातों का समावेश किया। सर्वप्रथम अपने-अपने राजधर्म की पताका (गरुड़ध्वज) सिक्कों पर खुदवायी और बाद में भारतीयता की छाप आ गयी। राजा धोती पहनकर दिखलाये जाने लगे। राज्य की विशिष्ट घटनाओं का प्रदर्शन होने लगा। छंदमय संस्कृत लेख खोदे गये। अश्वमेध, वीणा, विभिन्न पशुओं के साथ युद्ध की बातें आदि सिक्कों पर अंकित पायी जाती हैं। विष्णु-भार्या लक्ष्मी को भी पृष्ठभाग में स्थान दिया गया।

भारतीय इतिहास में भारतीय, यूनानी तथा पश्चिमी शक-राजाओं का इतिहास उनके सिक्कों से ज्ञात हुआ है। क्षत्रप-राजाओं की वंशावली तैयार की गयी है। इसके अतिरिक्त सिक्कों का प्रचलन यह बतलाता है कि अमुक राजा का राज्यविस्तार कितना था। जहाँ तक धर्म का विषय है, विभिन्न राजाओं द्वारा प्रचलित सिक्के यह बतलाते हैं कि राजा किस धर्म को मानता था। कुषाण-राजाओं के सिक्के पर नन्दी के साथ महादेव की आकृति बनी, तो वैष्णव मतानुयायी गुप्त-राजाओं ने विष्णु के वाहन गरुड़ तथा उनकी भार्या लक्ष्मी को सिक्कों पर स्थान दिया था।

पुराने सिक्कों से तत्कालीन आर्थिक अवस्था का ज्ञान होता है। अत्यन्त प्राचीन समय में पारस्परिक आदान-प्रदान से समाज

का काम चलता था। गाय अथवा अन्न विनिमय के साधन थे। परन्तु, व्यापार में उन्नति तथा सरलता के लिए सिक्के का आविष्कार हुआ। आरम्भ में ये धातु के एक पिण्ड के रूप में थे; लेकिन जैसे-जैसे व्यापार बढ़ता गया, सिक्के की बनावट में सुधार होता गया। अंत में राजा की आकृति और लेख तथा पृष्ठभाग में भी कभी लेख-युक्त सिक्के मिले हैं। सिक्कों की संख्या व्यापार की उन्नति का द्योतक थी। ऐसे उदाहरण पश्चिमी भारत के शक-राजा नहपान के असंख्य सिक्कों से मिलते हैं। गुप्त-राजा कुमारगुप्त के काल में चौदह प्रकार के सिक्के तैयार किये गये थे। उस समय भारतीय व्यापार चरम उन्नति पर पहुँच गया था। कालान्तर में तैयार सिक्के यह बतलाते हैं कि देश में राजनीतिक उथल-पुथल रहा। व्यापार तो राजनीतिक शांति के साथ चलता है। मध्ययुग में हलचल तथा विदेशी हूण लोगों के आक्रमण का प्रभाव सिक्कों पर पड़ा। व्यापार की ओर ध्यान न रहा; इस कारण स्कन्दगुप्त के बाद गुप्त-सिक्के संख्या में घट गये और मिश्रित धातुओं के बनने लगे। संक्षेप में यह कहना समुचित होगा कि सिक्के व्यापार के लिए तैयार किये गये थे और राजाओं ने उसकी उन्नति में सहायता की।

हमारा अमर साहित्य

किसी देश की संस्कृति जानने के लिए वहाँ के साहित्य का पूरा अध्ययन नितान्त आवश्यक है। साहित्य किसी देश तथा जाति के विकास का चिह्न है। साहित्य से उस जाति के धार्मिक विचारों, सामाजिक संगठन, ऐतिहासिक घटना-चक्र तथा राजनीतिक परिस्थितियों का प्रतिबिम्ब मिल जाता है। भारतीय संस्कृति के मूल आधार हमारे साहित्य के अमूल्य ग्रन्थ-रत्न हैं, जिनके विचारों से भारत की आन्तरिक एकता का ज्ञान हो जाता है। हमारे देश की बाहरी विविधता भारतीय वाङ्मय के रूप में बहनेवाली विचार और संस्कृति की एकता की धारा को ढक लेती है। वाङ्मय की आत्मा एक है, पर वह अनेक भाषाओं, रूपों तथा परिस्थितियों में हमारे सामने आती है।

भारत भर में पहले-पहल मनुष्य की प्रतिभा जिन वाङ्मयों के रूप में पुष्पित हुई उसमें प्रमुख हमारे वेद हैं—ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद। वेद के प्रधानतया दो विभाग हैं—संहिता तथा ब्राह्मण। मन्त्रों के समुदाय का नाम संहिता है। ब्राह्मण-ग्रन्थ में एक प्रकार इन्हीं मन्त्रों की व्याख्या है। ब्राह्मण के तीन खण्ड हैं—(१) ब्राह्मण (२) आरण्यक (३) उपनिषद्। ब्राह्मण गृहस्थों के लिए उपादेय है, तो आरण्यक वानप्रस्थ-आश्रम में जीवन बितानेवाले मनुष्यों के लिए हितकर है। उपनिषद् से

ब्रह्म-विद्या का तात्पर्य जाना जाता है। वैदिक साहित्य का अन्तिम भाग उपनिषद् कहा जाता है। इसलिए उसे वेदान्त के नाम से पुकारते हैं। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि संहिता, ब्राह्मण तथा आरण्यक में प्रधानतया कर्म की विवेचना है। उपनिषद् का प्रधान विषय ज्ञान है; अतएव वे 'ज्ञानकाण्ड' के नाम से प्रसिद्ध हैं। हमारे इसी वैदिक साहित्य में समाज की सारी समस्याओं को हल किया गया है। राजनीतिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक बातों की चर्चा उनमें है।

किसी भी सूक्त के अर्थानुसंधान से पहले तीन वस्तुओं की जानकारी आवश्यक हो जाती है—(१) ऋषि, (२) छन्द, (३) देवता। ऋषि से साधारणतया मंत्रों का कर्त्ता माना गया है। ऋग्वेद के २ से ६वें मण्डल में दस ऋषियों के नाम लिये जाते हैं। विश्वामित्र, वामदेव, भारद्वाज तथा वशिष्ठ आदि नाम मिलते हैं। संहिताओं का अधिकांश भाग छन्दोमय है। इसी कारण पाणिनि ने अपने सूत्रों में वैदिक भाषा को 'छन्दस्' के नाम से पुकारा है। और तीसरा देवता, जिसकी 'देवतास्तुति' वेदों में पायी जाती है।

ब्राह्मण-काल के अनन्तर सूत्रकाल आरम्भ होता है। इस काल में श्रुति से हटकर ऋषियों ने स्मृतियों की रचना की। ये बड़े विलक्षण ग्रंथ हैं, जिनमें अल्प अक्षरों द्वारा विपुल अर्थों का प्रदर्शन किया गया है। यज्ञ-याग को याद करने के लिए छोटे ग्रंथों की आवश्यकता प्रतीत हुई। इस काल के सूत्र-ग्रंथ वेद के अर्थ तथा विषय को समझने के लिए नितांत उपयोगी हैं। इसलिए उन्हें वेद का अंग 'वेदाङ्ग' कहते हैं। वेदाङ्ग छः हैं—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छंद तथा ज्योतिष। इसमें व्याकरण वेद का मुख है; ज्योतिष नेत्र, निरुक्त लोम, कल्प हाथ, शिक्षा नासिका

तथा छंद दोनों पाद हैं। शिक्षा की सहायता से वेदों के उच्चारण का भली भाँति ज्ञान प्राप्त हो जाता है। मंत्र भी छंदोबद्ध हैं। छंद के बिना वेद-मंत्रों का उच्चारण ठीक-ठीक नहीं हो सकता। निरुक्त वेदाङ्ग शब्दों की व्युत्पत्ति बतलाता है। व्याकरण से वेदार्थ की रक्षा की जाती है। यज्ञ जानने के लिए ज्योतिष जानना जरूरी था, इसलिए इसे विधायक शास्त्र कहते हैं। कल्पसूत्र तो यज्ञ-याग के विस्तार को संक्षिप्त रूप में परिचय कराता है। उनमें गृह्यसूत्र तथा धर्मसूत्र से भारतीय समाज में प्रचलित आचार तथा यागों का वर्णन मिलता है। षोडश संस्कारों का वर्णन तो गृह्यसूत्र का प्रधान विषय है। इन ग्रन्थों के अध्ययन से भारतीय आचार, रीति-रिवाज का परिचय मिलता है। धर्मसूत्र में धार्मिक नियम तथा राजा के कर्त्तव्य और अधिकार का पूरा-पूरा वर्णन मिलता है। साथ में चारों वर्गों तथा आश्रमों का वर्णन किया गया है। इन्हीं धर्म-सूत्रों से स्मृतियों की उत्पत्ति हुई। वेदाङ्ग-ग्रन्थों से हमारे देश में एक अनुपम शैली शुरू हुई। थोड़े शब्दों में अधिक विचारों को भर देना उस शैली का सार था। यही हाल सारे उत्तर वैदिक वाङ्मय का था।

वेदों के रचयिता कौन थे, इसके बारे में कोई बात निश्चित रूप से नहीं कही जा सकती। वेदों के सूक्तों में ऋषियों के जो नाम आते हैं, वे सूक्त के द्रष्टा (जिनके द्वारा सुक्त प्रकट हुए) माने गये हैं। उन्हीं को आधुनिक विचारों के अनुसार रचयिता कह सकते हैं। ऋग्वेद के सूक्तों में सैकड़ों ऋषियों के नाम आते हैं। वैदिक परम्परा का अनुमान कठिन है, अतएव उनके रचे जाने की बात भी अनुमान मात्र है। मत्स्य-पुराण के अनुसार वेदव्यास ने वेदों का पुनः संकलन किया। यह क्रिया द्वापर के अंत की है। पर सर्वसाधारण के लिए ऋषियों को वेदों का रचयिता कहा गया

है और उसी प्रसंग में विश्ववारा, लोपामुद्रा, घोषा, सिकता और निवावरी के नाम मिलते हैं।

चारों वेदों के चार उपवेद भी प्राचीन काल से माने जाते हैं। चरणव्यूह के अनुसार उपवेदों का क्रम इस प्रकार है—(१) आयुर्वेद, (२) धनुर्वेद, (३) गन्धर्ववेद तथा (४) अथर्ववेद। अथर्ववेद का उपवेद अथर्ववेद के नाम से पुकारा जाता है, जिसके अन्तर्गत दण्डनीति, राजनीति, अर्थशास्त्र तथा स्थापत्य-कला आदि सम्मिलित हैं। आयुर्वेद के मुख्य उपदेष्टा महर्षि धन्वन्तरि माने जाते हैं। तीन लोकप्रिय ग्रंथ प्रसिद्ध हैं—(१) चरक-संहिता, (२) सुश्रुत-संहिता और (३) वागभट्ट संहिता। चरक कनिष्क-काल में पैदा हुए थे और तक्षशिला में अध्यापक थे। धनुर्वेद के प्राचीन ग्रंथों का पता नहीं चलता, पर धनुर्विधि तथा धनुर्वेद-संहिता में इस विषय का प्रतिपादन स्वतन्त्र रूप से किया गया है। संगीत-शास्त्र सामवेद का उपवेद माना जाता है। साम-गायन की पद्धति बहुत ही कठिन है। इसी साम के तीन बार गायन को स्तोम कहते हैं। भरतमुनि का नाट्यशास्त्र संगीत का प्रथम ग्रन्थ माना जाता है। संगीत-विषयक ग्रन्थों में वह प्राचीनतम है। भरत के अनन्तर भी संगीत-शास्त्र की उन्नति हुई; परन्तु इन ग्रंथों के ऐतिहासिक वृत्त का परिचय हमें नहीं मिलता। शाङ्गदेव का संगीतरत्नाकर संगीत-शास्त्र का अत्यन्त प्रामाणिक ग्रंथ माना जाता है। अर्थशास्त्र का विषय तो बहुत प्राचीन है। ब्राह्मण-ग्रंथों में इसका निर्देश मिलता है। इसका सबसे प्राचीन महत्त्वपूर्ण ग्रंथ कौटिल्य का अर्थशास्त्र है, जो चन्द्रगुप्त मौर्य के मंत्री चाणक्य की रचना है। महाभारत में अर्थ तथा दण्डनीति के विषय का प्रतिपादन किया गया है। अंतिम उपवेद कला को मानते हैं, जिसमें शुक्रनीति के अनुसार ६४ कलाएँ हैं। शुक्राचार्य का कथन है कि कलाओं के

भिन्न-भिन्न नाम नहीं हैं; अपितु केवल उसके लक्षण ही कहे जा सकते हैं। जो व्यक्ति जिस कला का अवलम्बन करता है, उसकी जाति उसी कला के नाम से कही जाती है।

वेद तथा वेदाङ्ग के बाद लौकिक संस्कृत में विषय, भाषा, भाव आदि की दृष्टि से निबद्ध साहित्य अपना विशिष्ट महत्त्व रखता है। यह वैदिक साहित्य से आकृति, भाषा, विषय तथा अन्तस्तत्त्व की दृष्टि में नितांत पृथक् है। भारतीय साहित्य में पुराणों के साथ इतिहास वेद का समकक्ष माना गया है। ब्राह्मण-ग्रंथों में प्राचीन आचार्यों की कथाओं को 'इतिहासमाचक्षते' ऐसा कहकर उद्‌भुत किया गया है। भारतीय साहित्य में इतिहास शब्द से प्रधानतया महाभारत का ही बोध होता है। महाभारत कौरवों तथा पाण्डवों के युद्ध का वर्णन मात्र नहीं है; प्रत्युत् वह हमारी संस्कृति, समाज, राजनीति तथा धर्म-प्रतिपादक है। प्रचलित परिपाटी के अनुसार इसे आदि महाकाव्य मानना ही युक्तिसंगत है। रामायण द्वारा चित्रित भारतीय समाज महाभारत से भी प्राचीन है। सच्ची बात तो यह है कि रामायण और महाभारत जीवित भारतीय संस्कृति के प्रकाशस्तम्भ हैं। हमारा प्राचीन संस्कृति में जो कुछ था, उसका सांगोपाङ्ग वर्णन इन दोनों ग्रंथों से उपलब्ध होता है। महाभारत का शांतिपर्व जीवन की समस्याओं के सुलझाने में सहायक रहा है। भगवद्‌गीता इसी ग्रंथ का एक अंग है। इस ग्रंथ के अध्ययन से धर्म, इतिहास तथा राजनीति आदि विषयों पर प्रकाश पड़ता है। हिंदू-धर्म पर किसी ग्रंथ का आज उतना प्रभाव नहीं, जितना इस ग्रंथ का।

संस्कृत-साहित्य में वाल्मीकि आदि कवि माने जाते हैं। उनकी रामायण सर्वप्रसिद्ध है। महर्षि ने अनुष्टुप छंदों में ग्रंथ की रचना

की है। मूल रामायण में अयोध्याकांड से लेकर लंकाकांड ही तक वाल्मीकि की रचना मानी जाती है। उत्तरकांड पीछे जोड़ा गया है।

वाल्मीकि के समान व्यास भी कवियों के लिए उपजीव्य हैं। प्राचीन काल से अनेक गाथाओं में कौरव तथा पाण्डवों की वीरता का वर्णन मिलता है। इन्हीं को एकत्र कर वेदव्यास ने साहित्य का रूप दिया। इस कारण वे ही महाभारतकार कहे जाते हैं। आदि कवि वाल्मीकि के पश्चात् वेदव्यास ही सर्वश्रेष्ठ कवि हैं।

जनता में भारतीय संस्कृति के प्रसारित करने का श्रेय पुराणों को है, जिनमें आख्यान, उपाख्यान तथा गाथाएँ भी सम्मिलित हैं। कुछ समय पूर्व पुराणों में वर्णित विषय को पुरातन कथा मानते थे; परन्तु ये हमारे इतिहास की अमूल्य निधि हैं। पुराण का विषय इतिहास से व्यापक तथा विस्तृत है। अब हमें अपने शास्त्रों में पुराणों की कल्पना पर ध्यान देना है। मत्स्य, विष्णु तथा ब्रह्माण्ड में पुराणों का लक्षण निम्न प्रकार से दिया है—

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरित चैव पुराणं पंच लक्षणम्॥

अर्थात (१) सर्ग या सृष्टि, (२) प्रतिसर्ग अर्थात् सृष्टि का विस्तार, लय तथा पुनः सृष्टि, (३) सृष्टि की आदि की वंशावली (४) मन्वन्तर यानी किस मनु का समय कब रहा और उस काल में कौन-कौन-सी महत्त्वपूर्ण घटनाएँ हुईं और (५) वंशानुचरित सूर्य तथा चन्द्रवंशी राजाओं का वर्णन। ये ही पुराणों के पाँच विषय हैं। परन्तु पुराणों में इतनी ही बातों का वर्णन नहीं है। उदाहरण के लिए अगर अग्निपुराण को देखा जाय, तो पता चलता है कि वह तो 'भारतीय ज्ञानकोष' है।

पुराणों का महत्त्व अनेक दृष्टि से है। धार्मिक दृष्टि से पुराण वेदविहित धर्म का सरल सुबोध भाषा में वर्णन करता है।

इन ग्रंथों का समाजिक महत्त्व भी कम नहीं है। उस समय के भारतीय समाज का स्वरूप हमें पुराणों के पृष्ठों से उपलब्ध होता है। पुराणों में दिये गये इतिहास की पुष्टि लेख, मुद्रा तथा विदेशियों के कथन से होती है। इन पुराणों के कौन रचयिता हैं, इस विषय में गहरा मतभेद है। मनुसंहिता, गृह्यसूत्र तथा महाभारत के वाक्यों से इतना जरूर निष्कर्ष निकलता है कि पुराण कोई एक ग्रंथ न रहा होगा। यह कहा जाता है कि वेदव्यासजी ने जब वेदों के चार विभाग किये, तो इस पाँचवें वेद-पुराण का भी संग्रह कर डाला। वेदव्यास ने आख्यान, उपाख्यान तथा गाथा के साथ पुराण-संहिता की रचना की। व्यास का शिष्य लोमहर्षण हो गया है, जिसके छः शिष्यों ने एक-एक पुराण-संहिता की रचना की थी। वे सुमति, अग्निवर्मा, मित्रयु, शांसपायन,अकृतव्रण तथा सावर्णि नाम से विख्यात थे। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि व्यास ने स्वयं १८ पुराणों की रचना नहीं की थी। सम्भवतः संहिता नाम से जो संग्रह उन्होंने किया था, उसी के १८ विभाग हों। उसी आधार पर पुराण के रचयिता वेदव्यास कहे जाते हैं।

सम्भवतः पुराण-इतिहास-वाङ्मय का बड़ा अंश महाजनपद और पूर्व नन्दयुग में सम्पादित हुआ था। उनके अतिरिक्त वैदिक साहित्य को पिछले संस्कृत वाङ्मय से जोड़नेवाली तीन अमर रचनाएँ इसी युग की उपज हैं। वे तीन हैं—पाणिनि का अष्टाध्ययी, भगवद्गीता तथा कौटिल्य का अर्थशास्त्र। पाणिनि के सूत्र तो विश्व-वाङ्मय के अद्भुत रत्न हैं। भगवद्गीता में सारे उपनिषदों का निचोड़ है। अर्थशास्त्र मौर्यकालीन आर्यों के व्यावहारिक जीवन तथा आदर्शों का प्रतिविम्ब है। उस युग के विचार तथा ज्ञान का केन्द्र तक्षशिला का गुरुकुल था।

तक्षशिला के उस गौरव-युग में संसार के सबसे बड़े महापुरुष का जन्म आर्यावर्त में हुआ था, जिसका मत माननेवाले आज भी दुनिया के आधे लोग हैं। उस महापुरुष (बुद्ध) के महापरिनिर्वाण के बाद भिक्षुओं की संगीति (सभा) में बौद्धों का धार्मिक वाङ्मय तैयार हुआ था। पहली राजगृह की सभा के समय वाङ्मय के दो अंग थे—एक विनय तथा दूसरा धम्म। विनय में भिक्षुओं के आचरण-विषयक नियम थे और धम्म में धर्म-विषय की शिक्षाएँ। उनके उपदेश सूक्त भी कहलाते हैं, जो पाँच निकायों—वर्गों अथवा समूहों—में बँटे हैं। उनमें सदाचार-शिक्षा अत्यन्त सरल और सीधे शब्दों में है। बुद्ध के दो पट्टशिष्य थे—आनन्द तथा उपालि। आनन्द ने समग्र सुत्तों (उपदेश) को लिपिबद्ध किया तथा उपालि ने समस्त विनय को लिख डाला। इसका कारण यह था कि आनन्द भगवान के उपदेशों के ज्ञाता थे तथा उपालि संघ और भिक्षु नियमों के प्रकाण्ड पंडित। अशोक के समय बौद्ध वाङ्मय त्रिपिटक (पेटारी, समूह) के रूप में आ गया था। त्रिपिटक को तीन भागों में—विनय-पिटक, सुत्त-पिटक तथा अभिधम्म-पिटक—विभक्त किया गया है। पुराना विनय पहले पिटक में तथा धम्म सुत्त-पिटक में आ गया; पर अभिधम्म-पिटक पीछे की रचना है। विनय-पिटक आचार-प्रधान है। उसमें भिक्षु के आचार तथा व्यवहार-सम्बन्धी नियम मिलते हैं। यह बुद्ध-कालीन समाज के दिग्दर्शन कराने में विशेष उपयोगी है। इसमें भिक्षुओं के सामाजिक जीवन का विस्तृत वर्णन भी मिलता है। जिस प्रकार विनय-पिटक का प्रधान लक्ष्य है 'संघ' का शासन उसी तरह सुत्त-पिटक का प्रधान उद्देश्य धम्म का प्रतिपादन है। बुद्ध के जीवन-चरित्र तथा उपदेशों की जानकारी के लिए यही एकमात्र आश्रय है। इसके पाँच बड़े विभाग हैं। इन्हें निकाय कहते हैं। वे हैं—

दीघनिकाय, मज्झिमनिकाय, संयुत्तनिकाय, अंगुत्तरनिकाय तथा खुद्दकनिकाय।

अंतिम निकाय के अनेक सन्निविष्ट ग्रंथ हैं, जिनमें धम्मपद सबसे प्रसिद्ध तथा जनप्रिय है। इसकी ४२३ गाथाओं में बुद्धधर्म का सार्वजनिक रूप अत्यन्त मनोहर ढंग से वर्णित है। जातक-ग्रंथ का अभिप्राय बुद्ध के पूर्वजन्म से सम्बन्ध रखनेवाली कथाओं से है, जो संख्या में ५५० हैं। ये साहित्य तथा इतिहास की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। तीसरे पिटक अभिधम्म में सुत्तपिटक के स्थूल सिद्धान्तों का विस्तृत निवेचन किया गया है।

यों तो बुद्धधर्म तथा दर्शन का उदय और विकास ईसा पूर्व सदियों से होने लगा था; परन्तु ईसवी सन् के बाद बौद्धमत चार दार्शनिक सम्प्रदायों में विभक्त हो गया। वैभाषिक सम्बन्ध हीनयान से तथा माध्यमिक, सौभान्तिक और योगाचार महायान से सम्बन्धित है। हीनयानवाले मौद्गलिपुत्र 'तिष्य' को गौरव-पद प्रदान करते हैं। कनिष्क के समय में वसुमित्र की अध्यक्षता में एक महती सभा हुई थी, जिसके सहायक अश्वघोष भी थे। इस सम्प्रदाय में वसुबन्धु तथा संघभद्र का नाम गर्व से लिया जाता है। वसुबन्धु का पाण्डित्य तथा प्रतिभा अलौकिक थी। ये पेशावर नगर में एक ब्राह्मणकुल में पैदा हुए थे। तरुणावस्था से ये अयोध्या में ही अधिक रहने लगे। यों तो वसुबन्धु के कई ग्रंथ मिले हैं; पर अभिधर्मकोश सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। दूसरे आचार्य संघभद्र भी अयोध्या में रहते थे और वहीं रहकर अभिधम्म पर दो ग्रंथों की रचना की थी। सौभान्तिक मत के विषय में कतिपय आचार्यों का ही परिचय मिलता है, जिसमें कुमारलात सर्वप्रसिद्ध हैं। ये तक्षशिला के निवासी थे। वहाँ कबन्धदेश (वहाँ के उत्तर-पश्चिम का भाग) में राजाश्रय पाकर रहने लगे और

वहीं रहकर ग्रन्थों की रचना की। ये नागार्जुन के सदृश प्रकाशमान सूर्य कहे जाते थे। उनके प्रसिद्ध ग्रन्थ कल्पनामण्डतिका की हस्तलिखित प्रति मध्य एशिया के तुरकान नगर से मिली है।

योगाचारमत या विज्ञानवाद बौद्ध-दर्शन के विकास में महत्त्वपूर्ण अंग माना जाता है। इसके अन्तर्गत अनेक आचार्यों ने साहित्य की अभिवृद्धि की। सबसे प्रसिद्ध आचार्य आर्य असंग मैत्रेयनाथ के शिष्य और आचार्य बसुवन्धु के ज्येष्ठभ्राता थे। सम्राट् समुद्रगुप्त के समय में इनका आविर्भाव हुआ था। उन्होंने अपने अनुज बसुवन्धु को वैभाषिक मत से हटाकर योगाचार में दीक्षित किया था। महायान सूत्रालंकार इनका सर्वप्रसिद्ध ग्रन्थ है। वसुवन्धु ने भी विज्ञानवाद पर कई ग्रन्थ लिखे। तीसरे आचार्य स्थिरमति ने सात पुस्तकें लिखी थीं। इसी मत के चौथे आचार्य दिङ्नाग का जन्म कांची में हुआ था। निमन्त्रण पाकर ये नालंदा महाविहार में आये; पर अधिकतर उड़ीसा में रहा करते थे। प्रमाणसमुच्चय आपका सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। उनका न्यायप्रवेश मूल संस्कृत में उपलब्ध हुआ है। अन्तिम आचार्य धर्मकीर्ति का नाम दार्शनिक क्षेत्र में अमर रहेगा। प्रतिपक्षी भी इनकी अलौकिक प्रतिभा की प्रशंसा करते हैं। ये चोलदेश के तिरूमलई ग्राम में पैदा हुए थे। नालंदा महाविहार के पीठ-स्थविर धर्मपाल के शिष्य बनकर ये भिक्षुसंघ में प्रविष्ट हुए। इनका समय ६२५ ई० के लगभग माना जाता है। इनके प्रमाण-वार्तिक तथा न्यायविन्दु सर्वप्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। माध्यमिक शून्यवाद साहित्य का विकास बौद्ध-पंडितों की तार्किक बुद्धि का परिचायक है। आचार्य गण में नागार्जुन, आर्यदेव, बुद्धपालित, चन्द्रकीर्ति तथा शांतिरक्षित अति प्रसिद्ध हैं। प्रायः प्रत्येक ने कई ग्रन्थों की रचना की थी। उनमें नागार्जुन की माध्यमिककारिका तथा आर्यदेव का

चतुशतक शून्यवाद के प्रसिद्ध ग्रन्थ माने जाते हैं। चन्द्रकीर्ति ने उन ग्रन्थों पर प्रामाणिक टीकाएँ लिखी थीं। शांतिरक्षित नालंदा महाविहार के प्रधान पीठ-स्थविर थे और स्वतन्त्र माध्यमिक सम्प्रदाय के आचार्य थे। इनके ग्रन्थ तत्त्वसंग्रह में ब्राह्मणों तथा बौद्धों के अन्य सम्प्रदायों का विस्तृत खण्डन किया गया है।

× × ×

ऐतिहासिक कालक्रम में जैनमत बौद्धमत से भी प्राचीन है। जैनधर्म के ग्रन्थ आगम कहे जाते हैं; परन्तु दिगम्बर सम्प्रदाय इसमें आस्था नहीं रखता। श्वेताम्बरों का सम्पूर्ण जैन आगम छः भागों में विभक्त है—अंग, उपाङ्ग, प्रकीर्णक, छेदसूत्र तथा मूलसूत्र दिगम्बर आगम में षडखण्डागम तथा कसाय पाहुड मुख्य हैं। इनके विभिन्न अंगों का वर्णन स्थानाभाव के कारण यहाँ नहीं किया जा सकता; परन्तु जैन-पुराण के विषय में कुछ कहना आवश्यक है। इनमें प्राचीन महापुरुषों के पुण्य चरित के वर्णन हैं। रामायण-महाभारत के कथानक भी जैनपुराण में मिलते हैं। ये सब ग्रन्थ चौथी सदी से पूर्व किसी रूप में आ गये थे। उसके बाद कई सदियों तक उन धर्म-ग्रन्थों की रचना होती रही।

वाकाटक तथा गुप्त-युग के साथ प्राचीन काल का अन्त हो जाता है। संस्कृति और वाङ्मय के इतिहास में ठीक वही स्थिति है। उत्तर-वैदिक काल के अंत हो जाने पर शास्त्रीय संस्कृत-वाङ्मय का आरम्भ होता है। संस्कृत-साहित्य का सिलसिला तो मध्ययुग तक जारी रहा; पर उसका उत्कर्ष-काल गुप्त-युग ही था। उस समय तक पुराण-इतिहास वाङ्मय का परिपाक हो चुका था। त्रिपिटक साहित्य का विकास हो गया था तथा अर्थशास्त्र, संगीत, आयुर्वेद आदि बहुमुखी धाराएँ आगे चल चुकी थीं। उसके पश्चात् संस्कृत तथा प्राकृत-वाङ्मय का नाम लिया जाता है।

ऋषियों ने उपनिषदों के चिन्तन को आगे बढ़ाया। उनके तत्त्व-ज्ञान तत्त्वमसि का साक्षात्कार उपनिषद् के पश्चात् युगों के लिए एक विषम पहेली थी। उसके स्वरूप को जानने पर ही तत् त्वं (तत् = ब्रह्म, त्वं = जीव) की एकता सिद्ध की। इस ज्ञान को सम्यक् ख्याति का नाम दिया गया। इस दार्शनिक प्रवृत्ति का उदय संहिताकाल में ही हो गया था। वह भारतीय विचारधारा द्विविध प्रवृत्ति को लेकर चली थी—पहला प्रतिभामूलक तथा दूसरा तर्कमूलक। दूसरी प्रवृत्ति को लेकर भारतीय दर्शन चले थे। वैदिक सिद्धान्तों को प्रामाणिक तथा सर्वथा सत्य माननेवाले छः दर्शन लिखे गये थे—न्याय, वैशेषिक, योग, मीमांसा, सांख्य तथा वेदान्त। इनके अभ्युदय का इतिहास भारतीय विचार-शास्त्र की विभिन्न प्रवृत्तियों का मार्मिक समीक्षण है। यह इतिहास तीन विभागों में बाँटा जा सकता है—सूत्रकाल, भाष्यकाल तथा वृत्तिकाल। सूत्रकाल में इन दर्शनों का उदय हुआ। प्रत्येक दर्शन का मूल ग्रंथ सूत्ररूप में उपलब्ध होता है। यह हम देख चुके हैं कि पाणिनि व्याकरण तथा सूत्र-ग्रंथ सूत्ररूप में ही लिखे जा चुके थे। इस शैली को दर्शन-ग्रंथों में समाविष्ट किया गया। विक्रमादित्य के बाद इनका विकास हुआ, जो क्रम पन्द्रहवीं सदी तक चलता रहा। इसे भाष्यकाल कहते हैं।

धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र तथा आयुर्वेद की परम्परा बाद में स्मृति, नीति-ग्रन्थों के रूप में विकसित हुई। शुंग-युग में मनुस्मृति की रचना हो गयी थी। याज्ञवल्क्य-स्मृति भी लिखी जा चुकी थी। शुंग-युग में नारद-स्मृति तथा कामन्दक-नीति की भी रचना हुई। बृहस्पति तथा कात्यायन ने भी व्यवहार-स्मृतियाँ लिखीं। इस युग में विज्ञान की कम उन्नति नहीं हुई। रासायनिक समासों के ज्ञान में उन्नति हुई तथा वैद्यक में रसों का प्रयोग जारी हुआ। संस्कृत वाङ्मय के युग में ज्योतिष की क्रमशः

उन्नति होती गयी। आर्यभट्ट, ब्रह्मगुरु, वराहमिहिर तथा भास्कर आदि गुप्तयुग के प्रसिद्ध ज्योतिषी थे। भारतीय गणित तथा ज्योतिष वाङ्मय में भी अनेक अंश स्थायी मूल्य के हैं, जिनके विकास में जाना हमारा अभीष्ट नहीं है। इतना ही कहना पर्याप्त है कि गुप्त-युग में संस्कृत-वाङ्मय की चरम उन्नति हुई।

संस्कृत-साहित्य में अधिकतर काव्यमय ग्रन्थ लिखे गये थे। यह वाङ्मय पूर्व वैदिक साहित्य से केवल न आकार, बल्कि विषय तथा भाव में भी भिन्न हैं। संस्कृत-कवि अधिकतर राजाश्रय पाकर काव्यमय ग्रंथ लिखा करते थे। दरबार में रहकर उन कवियों ने स्वतंत्र रूप से साहित्य का भण्डार भरा। अश्वघोष का बुद्ध-चरित्र सबसे पुराना काव्य (महाभारत तथा रामायण को छोड़कर) कहा जाता है। शुद्रक का मृच्छकटिक, विशाखदत्त का मुद्राराक्षस तथा विष्णुशर्मा का पंचतंत्र आदि अमर रचनाएँ हैं।

संस्कृत-साहित्य-सागर के अमूल्य रत्न गुप्तयुग में प्रकट हुए थे। कालिदास मानों भारत के हृदय थे। शकुन्तला में सरस जीवन का आदर्श तथा उनके रघुवंश में राष्ट्रीय एकता का सजीव रूप रक्खा गया है। रघुवंश कालिदास का सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य है। उनके मेघदूत नामक ग्रंथ के अध्ययन से पता चलता है कि कालिदास उज्जयिनी के रहनेवाले थे, पर अभी तक कोई बात निश्चित न हो सकी है। अधिकांश विद्वान् कालिदास को गुप्त-सम्राट चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य का राजकवि मानते हैं। राजाश्रय पानेवाले कवियों में भारवि का नाम भी लिया जा सकता है। वह दक्षिण भारत के चालुक्य-नरेश विष्णुवर्धन के सभा-पण्डित थे। इनका किरातार्जुनीय महाकाव्य संस्कृत-साहित्य के वृहत्त्रयी (तीन महाकाव्यों) में अन्यतम माना जाता है। सातवीं सदी के वलभी-राजा श्रीधर सेन के सभा-पण्डित भट्टि का नाम

काव्य के साथ व्याकरण के प्रयोगों के लिए प्रसिद्ध है। इनका काव्य रावण-वध भट्टिकाव्य के नाम से सर्वत्र विख्यात है। 'शिशुपालवध' नामक महाकाव्य लिखकर कवि माघ ने अपना नाम अमर कर दिया। ये गुजरात के भीनमाल के निवासी थे।

रत्नाकर काश्मीर-नरेश जयापीड (८०० ई०) के सभा-पण्डित थे और क्षेमेन्द्र राजा अनन्त (१०२८-१०६३) के राज्य में रहते थे। इन्होंने विपुलकाय ग्रन्थों की रचना की है, जिनमें रामायण-मञ्जरी तथा भारत-मञ्जरी प्रधान हैं। क्षेमेन्द्र के एक शताब्दी भीतर ही एक दूसरे काश्मीर के कवि ने महाकाव्य लिखा, जिसको मंखक कहते हैं। ये काश्मीर-राजा जयसिंह (११२९ ई०) के सभा-पण्डित थे। श्रीकण्ठ-चरित में मंखक ने भगवान शिव तथा त्रिपुर के युद्ध का साहित्यिक वर्णन किया है।

दूसरे स्थानों में भी यह परिपाटी काम कर रही थी। काशी के गहड़वाल राजा विजयचन्द्र के सभा-पण्डित का नाम हर्ष था। यों तो इन्होंने कई ग्रन्थ रचे, पर उनका नैषधचरित सर्वप्रसिद्ध है। इसमें नलदमयन्ती के विवाह की कथा काव्य में कही गयी है।

ऐतिहासिक महाकाव्यों के लेखक भी राज-दरबार में रहा करते थे। नवसहसाङ्क-चरित के रचयिता पद्मगुप्त परमारवंशी मुञ्ज के सभा-कवि थे। दूसरा ऐतिहासिक महाकाव्य विक्रमाङ्कदेव-चरित के नाम से विख्यात है, जिसके रचयिता विल्हण थे। ये आश्रयदाता की खोज में काश्मीर से दक्षिण भारत चले गये, जहाँ चालुक्य-राजा विक्रमादित्य षष्ठ ने इनका स्वागत किया। इन्हीं का चरित उस पुस्तक में वर्णित है। कल्हण-कृत राजतरंगिणी तथा हेमचन्द्र-रचित 'कुमारपाल-चरित' उसी श्रेणी में रक्खे जाते हैं। गुप्तयुग के बाद भवभूति तथा राजशेखर की रचनाओं में नया

जीवन है। वे कवि भी राज-दरबार में रहकर साहित्य का भंडार भरते रहे।

भारतीय वाङ्मय मध्य एशिया, तिब्बत तथा हिन्द-चीन द्वारा विदेशों में फैला था। पहले तो अशोक के धर्म-प्रचारक भारतीय साहित्य को यथास्थान ले गये थे; पर ईसवी सन् के बाद व्यापारियों ने वाङ्मय को उन देशों तक पहुँचाया। मध्य एशिया में संस्कृत बौद्ध-ग्रंथों के अनुवाद तुर्की भाषा में हुए। इसी तरह हिन्द-चीन तथा थाईलैंड में भी भारतीय ग्रंथ अनूदित किये गये। इंडोनेशिया में तो संस्कृत में अभिलेख मिले हैं, जिनसे पता चलता है कि पूर्वी द्वीप-समूह में संस्कृत का प्रचार हो गया था। वहाँ के साहित्य में राम-कृष्ण का वर्णन भी प्राप्य है।

संस्कृति की भ्रमण-कथा

आजकल हमारे देश के स्वतंत्र हो जाने से भारत का मान अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में बढ़ गया है। एशिया में भारत को अगुआ क्यों मानने लगे हैं, यह कथा नयी नहीं है। पुराने समय से ही भारत संसार को अपनी तरफ खींचता रहा है। प्राचीन इतिहास के पढ़ने से मालूम होता है कि उस समय भारतवर्ष के सम्पर्क में कई देश आ गये थे। समय-समय पर विदेशी आक्रमणकारियों ने हमारी संस्कृति को मिटाने का प्रयत्न किया; परन्तु हजारों साल तक हमने उस संस्कृति की रक्षा की है।

उन बहुत-से लोगों में, जो भारतीय जीवन तथा संस्कृति के सम्पर्क में आये, ईरानियों का नाम सर्वप्रथम लिया जाता है। वह सम्बन्ध उस समय का है, जब भारतीय आर्यों ने ईरान से पृथक् होकर अपना रास्ता लिया था। जाति तथा भाषा के विचार से दोनों एक ही हैं। वैदिक काल से ही दोनों देशों में आना-जाना होता रहा। यद्यपि पश्चिमवालों ने भारत से बहुत कुछ सीखा; पर ईरानियों का भी प्रभाव भारत पर पड़ता रहा। भारत में खरोष्ठी लिपि उन्हीं की देन है। वह असर बराबर चलता रहा। यहाँ तक कि अफगान तथा मुगल-राज्यों में दरबारी भाषा फारसी बनी रही। यह कहना कठिन है कि किस समय से यह सांस्कृतिक सम्बन्ध बढ़ता गया; परन्तु प्रागैतिहासिक युग में भी भारत से ईरान तथा मिस्र का सम्बन्ध था। ईसा पूर्व

की सदियों में भारत का पश्चिमी एशिया से व्यापार जारी था और लोग आते-जाते थे। ईसा पूर्व छठी सदी में दारा भारत के पश्चिमोत्तर प्रांत तक राज्य करता था। सिन्ध और पश्चिमी भाग भी उसके अधीन थे। भारत में सूर्य-पूजा का प्रचलन ईरानी प्रभाव के कारण ही बतलाया जाता है। काबुल, कंधार तथा सिस्तान भारतीयों एवं ईरानियों के मिलने की जगहें थीं। उत्तरी भारत से आनेवाले व्यापारी इसी स्थल-मार्ग से होकर पश्चिमी एशिया में जाया करते थे। ईसवी सन् के बाद मुसलमानों के सिवा जितने विदेशी आये, सभी भारतीय जीवन में घुल-मिल गये। सातवीं सदी के बाद इस्लाम का भारत में प्रवेश हुआ। ईरान में इसके पहुँचने पर जरथुस्त्र-धर्म के माननेवालों ने हजारों की संख्या में भारत में प्रवेश किया था। यहाँ वे सब पश्चिमी समुद्र-तट पर बस गये।

भारत में इस्लाम मतानुयायियों के आने पर समाज में कई प्रकार के परिवर्त्तन हुए। अरब के खलीफा की आँखों में भारत की संस्कृति ने घर बना लिया। भारत से विज्ञान तथा ज्ञान का प्रचार अरब में होने लगा। यहाँ से ज्योतिष, गणित तथा वैद्यक का वहाँ विशेष प्रचार हुआ। खलीफा ने भारत से वैद्य बुलाकर अरब के चिकित्सालयों में नियुक्त किया। गणित के साथ भारतीय अंक भी वहाँ पहुँचे, जो उस भाषा में हिन्दसा के नाम से पुकारे जाते हैं। इस प्रकार हजारों साल हुए, जब ईरान से भारत का सम्बन्ध आरम्भ हुआ था और इस्लाम के आने से दूसरे रूप में परिवर्तित हो गया। भारतीय संस्कृति का विवरण उन देशों के इतिहास में भरा पड़ा है।

इसी सिलसिले में यूनान का भी नाम लिया जा सकता है, जिसे योरपवाले पश्चिमी संस्कृति का मूलस्रोत मानते हैं।

यह ठीक है कि यूनान ने कई बातों पर नये ढंग से विचार किया था, जो भारत अथवा ईरान से पृथक् मालूम पड़ता है। यह भी सच है कि यूनान के लोग भारतीय विचारधारा के कायल थे। भारत पुराने यूनान के अधिक समीप रहा। एक-सा विचार होने पर भी पारस्परिक बातों का आदान-प्रदान होता रहा। धर्म, दर्शन तथा गणित के सिद्धान्त, जो पाइथागोरस के अनुयायी पढ़ाया करते थे, वे सभी छठी सदी से पूर्व भारतवासियों को ज्ञात थे। उदाहरण के लिए दर्शन तथा कला पर ही विचार किया जाय, तो प्रकट होता है कि भारत तथा यूनान में तपस्या का जीवन आदर्श माना जाता था।

सिकन्दर के आक्रमण के बाद भारत में यूनानी बसे और उन्होंने पश्चिमोत्तर प्रांत में राज्य किया। भारतीय जीवन में रहने के कारण उनपर भारतीय संस्कृति का काफी प्रभाव पड़ा। फलतः भारत की तरह त्यौहार मनाना और स्त्रियों के शास्त्रार्थ की बातें यूनान में भी जा पहुँचीं। तक्षशिला का यूनानी राजदूत हेलियोडोरस वैष्णव धर्मानुयायी हो गया। इसका विस्तृत वर्णन वेसनगर-ध्वज-स्तंभ से मिलता है। प्रसिद्ध राजा मिनेण्डर ने अपना नाम मिलिन्द रक्खा और बौद्ध-धर्म की दीक्षा ली। 'मिलिन्द प्रश्न' नामक बौद्ध-ग्रंथ में उसके गुरु नागसेन की शिक्षा का विवरण पाया जाता है। इस तरह हम देखते हैं कि भारतीय संस्कृति से यूनानी भी प्रभावित रहे। ऐतिहासिक युग से दोनों देशों का घना सम्पर्क चलता रहा। उज्जैन का सम्बन्ध सिकन्दरिया से था। यह भी कहा जाता है कि कई भारतवासी यूनान गये थे और उन्होंने सुकरात से प्रश्न किया था। विदेशी यात्री अलबेरुनी तथा प्रोफेसर टार्न ने लिखा है कि भारतीय विधानों का यूनान में प्रचार था।

पश्चिमी देशों की तरह एशिया के उत्तर-पूरब मध्य एशिया,

तिब्बत तथा चीन में भी भारतीय संस्कृति धीरे-धीरे फैली। बौद्ध-धर्म ने उन देशों से सम्पर्क स्थापित किया। यह कहा नहीं जा सकता कि अशोक से पहले उन देशों से भारत का सम्बन्ध था या नहीं; परन्तु अशोक के धर्म-प्रचारकों ने उसका रास्ता खोला। सम्भव है कि जल-मार्ग से चीन तक भारतीय जाते रहे हों; परन्तु स्थल-मार्ग से इनका अधिक आना-जाना अशोक के बाद ही शुरू हुआ। चीन में ज्यों-ज्यों बौद्धधर्म फैलता गया, त्यों-त्यों वहाँ से यात्री तथा विद्वान् लगातार भारत में आते रहे।

भारत तथा चीन के बीच हजारों वर्षों तक सम्पर्क बना रहा। इस लंबी यात्रा में कठिन परिश्रम के साथ चीन से गोबी रेगिस्तान होकर, मध्य एशिया के पहाड़ों और मैदानों को तय कर तथा हिमालय को पार कर यात्री भारत पहुँचा करते थे। इस यात्रा में अनेक भारतीय तथा चीनी मर गये अथवा जो जहाँ गये, वहीं रह गये, वापस नहीं आये। भारत से जो चीन जाते थे, वे काश्मीर के लेह दर्रा को पार कर मध्य एशिया जाने लगे। यारकंद होकर भी चीन का रास्ता जाता था; परंतु तरीम नदी की घाटी से दक्षिणी भागवाला मार्ग सरल था। इसी भाग में मध्य एशिया के भग्नावशेष मिलते हैं, जो वहाँ भारतीय संस्कृति के प्रतीक (चिह्न) माने जाते हैं। चीनी यात्री फाहियान और ह्वेनसांग ने मध्य एशिया के इस मार्ग पर चलकर वहाँ की संस्कृति का वर्णन किया है। इस प्रकार मध्य एशिया मध्यस्थ का काम करता रहा।

भारतीय सभ्यता के प्रसार में व्यापारियों ने काफी हाथ बँटाया है। इसलिए मध्य एशिया के कई स्थानों पर भारतीय बस गये। भारतीय बस्तियाँ काशगर, खोतन, कूचा और कारासर नामक नगरों में मिलती हैं। कूचा तथा खोतन भारत की प्रधान बस्तियाँ

थीं। लेवनौर प्रान्त में सभी भारतीय धर्म को मानते थे। वहाँ के पुजारी तथा संन्यासी भारत के धर्म-ग्रन्थ पढ़ते थे। चीन के इतिहास से पता चलता है कि चौथी सदी में कूचा नामक स्थान में भारत के एक विद्वान् ने राजकुमारी से विवाह किया था। मध्य एशिया की खुदाई कई वर्षों तक की गयी और वहाँ जो गुफाएँ तथा भग्न स्थान मिले हैं, उनमें भारतीय वस्तुएँ मिली हैं। गोबी रेगिस्तान के कारण वहाँ के घर, मन्दिर और मठ बालू के पहाड़ के नीचे दबे पाये गये हैं। इन मठों और मन्दिरों में भगवान बुद्ध की प्रतिमाएँ मिली हैं, जिनसे प्रकट होता है कि यहाँ बौद्ध-मत का प्रचार हो गया था। स्थान-स्थान पर भित्ति-चित्रों में भी बुद्ध के जीवन-सम्बन्धी चित्र मिले हैं। उनपर अजन्ता के चित्रों की छाप साफ तौर पर दिखलाई पड़ती है। चूने की बनी विशाल बौद्ध प्रतिमाएँ गान्धार से लाकर वहाँ स्थापित की गयी थीं। उनमें वस्त्र का पहनावा भारतीय है। इस प्रकार समाज, धर्म, कला, साहित्य आदि सांस्कृतिक विषयों के अध्ययन से भारतीय संस्कृति का विस्तार मध्य एशिया में दीख पड़ता है।

मध्य एशिया को पार कर भारतीय संस्कृति चीन पहुँच गयी थी। ईसवी सन् के आरम्भ में ही सम्राट् मिङ्ती के बुलाने पर भारत से काश्यप मातंग चीन गया था। उसके बाद धर्मरक्षक, बुद्धिभद्र, कुमारजीव, परमार्थ आदि प्रसिद्ध विद्वान् चीन जाते रहे। यह कहा जाता है कि छठी सदी तक तीन हजार से अधिक भिक्षु तथा दस हजार भारतीय चीन में बस गये थे। इसी से अनुमान किया जा सकता है कि चीन और भारत में कितना गहरा सम्बन्ध हो गया था। जो विद्वान् चीन गये थे, वे अपने साथ संस्कृत के ग्रन्थ लेते गये और वहाँ जाकर चीनी भाषा में उसका अनुवाद किया था। चीन में भारतीय सम्पर्क बढ़ने पर

वहाँ से यात्री भारत में धार्मिक स्थानों की यात्रा के लिए तथा विश्वविद्यालयों में पढ़ने के लिए आने लगे।

फाहियान, ह्वेनसांग तथा इत्सिंग के नाम से सभी परिचित हैं। फाहियान कुमारजीव का शिष्य था और पाँचवीं सदी में भारत आया था। उसने गुप्त-कालीन भारतीयों के रहन-सहन तथा आचार के बारे में काफी लिखा है। वह लिखता है कि भारतीय समाज में चोरी का नाम न था। सारे देश में कोई हिंसा नहीं करता था; मद्य नहीं पीता था; मृगया, मांस बेचना तथा शराब की दूकान रखना चाण्डाल ही के जिम्मे था। स्थल-मार्ग से गोबी के रेगिस्तान को पार कर, यारकंद होता हिमालय को लांघकर सातवीं सदी में ह्वेनसांग भारत आया था। उसने रास्ते के बौद्ध-मठों तथा धर्म का हाल लिखा है। वह भारत में सारे देश में घूमा। वर्षों तक नालंदा-विश्वविद्यालय में अध्ययन करता रहा। उसका कथन है कि भारत के लोग सच्चे तथा ईमानदार थे। ह्वेनसांग जब चीन पहुँचा, तो वहाँ के राजा ने उसका बहुत स्वागत किया। वह भारत से अनेक पुस्तकें अपने साथ ले गया था। उसके बाद इत्सिंग नामक बौद्ध चीनी यात्री भारत में आया; पर मध्य एशिया में राजनीतिक हलचल के कारण उसे समुद्र के मार्ग का आश्रय लेना पड़ा था। सुमात्रा होता वह पूर्वी बन्दरगाह ताम्रलिप्ति पर उतरा। इत्सिंग ने नालंदा-विश्वविद्यालय में विद्या सीखी और लौटते समय संस्कृत-ग्रन्थ साथ लेता गया। उसका कथन है कि भारत के रहनेवाले शुद्धता पर विशेष ध्यान देते थे। चीन में संस्कृत भाषा का अच्छा अध्ययन होता रहा और चीनी विद्वानों ने संस्कृत के नियमों को चीनी भाषा में चलाया था। भारत में बौद्धधर्म के ह्रास होने पर चीन से भारत का सांस्कृतिक सम्बन्ध ढीला पड़ गया। भारतीय साहित्य

का बहुत अंश चीनी भाषा तथा तिब्बती साहित्य में भरा पड़ा है, जिनकी मूल प्रतियों का नामोनिशान तक नहीं है। उन ग्रन्थों में ज्योतिष, ब्राह्मणधर्म, गणित, चिकित्सा-शास्त्र आदि विषयों की प्रतियाँ मिली हैं।

ईसवी सन् के आरम्भ से ही जो चीन तथा भारत का व्यापार चलता रहा वह मध्यकाल तक जारी रहा। समुद्र के रास्ते से अधिक आना-जाना था। दक्षिण-पूर्वी द्वीपों से होते हुए भारतीय व्यापारी चीन तक पहुँच जाते थे। चीन तथा भारत में सैकड़ों साल से जो सम्पर्क बना रहा, वह विचार तथा दर्शन के क्षेत्र में ही सीमित न था; बल्कि कला तथा विज्ञान में भी उसका पारस्परिक प्रभाव पड़ा। चीनवालों ने जो कुछ सीखा, उसे अपनी शक्ति से आत्मसात कर लिया और अपने रंग में ढाल दिया। बौद्ध-धर्म के निवृत्ति-प्रधान होने पर भी चीनी लोग जीवन के प्रति निराशावादी न थे।

तिब्बत में भारतीय संस्कृति का प्रचार सातवीं सदी के बाद हुआ था, जिसके पहले का इतिहास अन्धकारमय है। गम्पो नामक राजा के शासन में नेपाल की राजकुमारी ने तिब्बत में बौद्ध-धर्म का प्रसार किया था। वह गम्पो से व्याही गयी थी और उसने अपने पति को बौद्ध धर्म में दीक्षित कर तिब्बत में भारतीय संस्कृति का बीज बोया था। इसके बाद ही धर्म में प्रेम होने के कारण राजा ने भारतीय विद्वानों को बुला भेजा और इसी से भारतीय सम्पर्क का श्रीगणेश हुआ। सम्भवतः पद्मसम्भव तंत्रमत को वहाँ ले गये। तब से भारतीय पंडितों का आना-जाना होता रहा। मुसलमानों के बंगाल में आने पर बौद्ध-पंडितों ने नालंदा तथा विक्रमशिला को छोड़कर नेपाल तथा तिब्बत में शरण ली थी। वे अपने साथ सैकड़ों पुस्तकें लेते गये। यही कारण है कि अनेक प्राचीन पुस्तकें तिब्बती साहित्य में मिली हैं। तिब्बती कला पर भारतीय चित्रकला
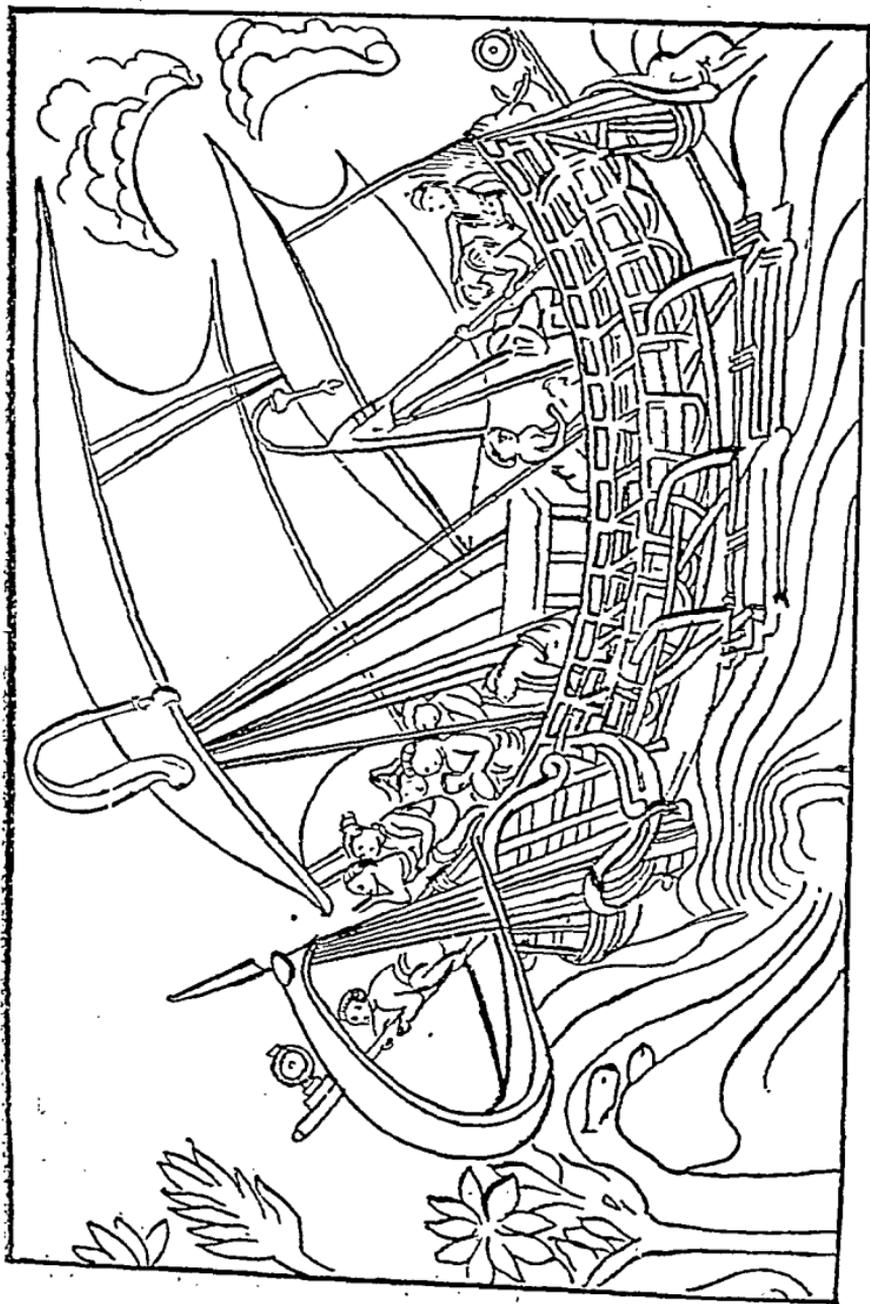
यवद्वीप (जावा) में उपनिवेश बसाने जाते हुए भारतीय [बोरोबुदूर के मन्दिर पर खुदी एक मूर्ति का अंश]

का काफी प्रभाव है। धर्म तो तंत्रमत को लेकर चलाया गया था। उसका विकृत रूप आज भी तिब्बत में पाया जाता है।

भारत के स्त्री-पुरुषों ने दूर देशों में जाकर उपनिवेश बनाया था। इससे आर्यों की मानसिक शक्ति तथा राजनीतिक विजय का पता चलता है। उस मार्ग में शैलेन्द्र नामक योद्धा ने बहुत काम किया था। उसने दक्षिण-पूर्वी द्वीपसमूह जावा, सुमात्रा आदि पर विस्तृत राज्य कायम किया था, जो सदियों तक वहाँ स्थिर रहा। भारत की कला तथा संस्कृति के विकास-चिह्न आज भी जावा तथा कम्बोडिया में मिलते हैं। उस प्राचीन भारतीय उपनिवेश में भली भाँति संस्कृति स्थापित कर और बस्तियाँ बसाकर भारत आदर का पात्र बना था। जावा तथा बाली में अनेक पुराने शिलालेख, ताम्रपत्र तथा मन्दिर मिले हैं, जिनके आधार पर भारतीय इतिहास तैयार हो सका है और उसे बृहत्तर भारत का नाम दिया गया है।

वहाँ पर भारवासियों के आने-जाने में व्यापार भी सहायक रहा। भारत तथा चीन के बीच उसने मध्यस्थ का काम किया। कम्बोडिया (हिन्दचीन) में एक किंवदन्ती है कि कम्बू नामक भारतीय राजा अपनी स्त्री के मरने पर वहाँ जा बसा था। उसी ने उस भूभाग का नाम कम्बोडिया रक्खा। सर्वप्रथम वहाँ उपनिवेश बना। उसके बाद चम्पा का नम्बर आता है। हिन्दचीन के राजनीतिक इतिहास से पता चलता है कि दूसरी सदी से लेकर हजारों वर्षों तक भारतीय संस्कृति का वहाँ विस्तार रहा। भारतीय सभ्यता के प्रसार से हिन्दचीन में इतना विकास हो गया कि भारतीय ढंग से उनमें किसी प्रकार का भेदभाव न रहा। भारत की तरह वहाँ चारों वर्णों का नाम समाज में मिलता है। चम्पा का रीति-रिवाज तथा विवाह की प्रणाली सर्वथा भारतीय थी।

स्थान तथा व्यक्ति के नाम भी भारतीय ही हैं। सबसे अधिक प्रभाव धार्मिक क्षेत्र में दिखलाई पड़ता है। भारत में प्रचलित पौराणिक मूर्तियाँ वहाँ पूजित होती रहीं। ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव की पूजा का विवरण वहाँ के साहित्य में मिलता है। वहाँ पर संस्कृत की प्रधानता थी और शिलालेख इसी देवभाषा में मिले हैं।

उपनिवेश बसानेवालों की जो लहर दक्षिण-पूर्व में फैली, वह मलाया, जावा, सुमात्रा तथा बाली में पहुँची। पूरब जानेवालों का सिलसिला सैनिक दृष्टि को सामने रखकर बढ़ता रहा। रामायण और महाभारत में भी यवद्वीप (जावा) का नाम आया है। इससे पता चलता है कि भारतवासी पुराने जमाने से उन द्वीपों में जाते थे। उतने पुराने इतिहास का कुछ पता नहीं है; परन्तु ईसवी सन् के पश्चात् तो लोगों का आना सदा होता रहा। जावा की जनश्रुति में गुजरात के एक राजकुमार के वहाँ पहुँचने की कथा कही गयी है। उसी का चित्र जावा के बोरोबुदूर मन्दिर पर खुदा हुआ है। जावा तथा बाली की संस्कृति भारत से इतनी मिलती-जुलती है कि उसके जाननेवालों को आश्चर्य हो जाता है। जहाँ तक सामाजिक रीति-रिवाजों का संबंध है, वे बाली तथा जावा में आज भी देखे जा सकते हैं। भारतीय नगर तथा व्यक्तियों के नाम पर वहाँ नामकरण किया गया था। उदाहरण के लिए अयोध्या तथा द्वारिका का नाम ले सकते हैं। वहाँ भारतीय कला, साहित्य तथा भाषा का भी प्रचार हुआ था। इतना होने पर भी वहाँ के निवासी मातृभूमि को भूले नहीं और उससे सांस्कृतिक संबंध बनाये रक्खा। यद्यपि आज वहाँ हिन्दूधर्म का प्रचार नहीं है, तथापि वहाँ के भग्नावशेष हिन्दू-संस्कृति का स्मरण दिलाते हैं। जावा का बोरोबुदूर-मन्दिर प्रवासी भारतीयों के शिल्प-कला की कहानी सुना रहा है। हिन्दचीन के लेखों में भी दशरथ

तथा राम का वर्णन मिलता है। जावा के कलाविदों ने रामायण के कथानक को प्रस्तरों पर खोदकर उसे चिरस्थायी बनाया। वहाँ के जोगजा नामक स्थान के पास स्थित मन्दिर को रामायण का मन्दिर कहते हैं। चित्रों के अतिरिक्त भारतीय ढंग पर इन द्वीपों में रामलीला नाटक भी खेला जाता है। जावा, बाली आदि में रामचरित का अभिनय कर लोग परमानन्द का अनुभव करते हैं। उनका पूर्ण विश्वास है कि राम-सीता उस देश के महापुरुष तथा नारी थे। संक्षेप में यह कह सकते हैं कि भारवासियों को साहसी धंधों ने औपनिवेशिक विस्तार की प्रेरणा दी थी, जिनके कारण वे इन पूर्वी द्वीप-समूह में जाकर बस गये। पुराने संस्कृत-ग्रंथों में उन्हें स्वर्णद्वीप कहा गया है। विद्वानों का मत है कि उन द्वीप समूहों में भारत के पूर्वी तट, उड़ीसा तथा चोलमण्डल से लोग गये थे। शैलेन्द्र उड़ीसा से ही वहाँ गया था। भारत के विचारों में लचीलापन था, जिसके कारण सम्पर्क में आनेवाली जाति तथा धर्म को उसने अपने अनुकूल ही ढाल लिया। तेरहवीं सदी तक भारतीय प्रभाव में वह भाग बना रहा; परन्तु उसके बाद इस्लाम का वहाँ प्रवेश हुआ, जिसके कारण उन स्थानों में परिवर्त्तन आ गया। तब भी आज तक भारतीय सांस्कृतिक प्रभाव वहाँ पाया जाता है।

कला तथा धर्म

अपने देश के प्राचीन धर्म कथा कला की कहानी बड़ी मनोरंजक है। हमारे देश में सभी कार्य धर्म के नाम से प्रारम्भ होते हैं। आज से हजारों साल पहले आर्य लोग प्रकृति-देवी की पूजा करते थे। अग्नि, वरुण, इन्द्र आदि की प्रार्थना की जाती थी, जो आर्य लोगों के जीवन में सहायक थे। उन सबका ध्यान व्यापक धर्म की ओर था। आजकल की तरह धार्मिक मतभेद न थे। आदिम निवासियों में सूर्य तथा शिव की पूजा प्रचलित थी। संभवतः आर्यों ने शिव की पूजा की परिपाटी उन्हीं से ग्रहण की। ज्यों-ज्यों आर्य लोग फैलते गये, उन लोगों में कर्म-काण्ड की भावना प्रधान होती गयी। लोगों को यज्ञ में अधिक विश्वास था। पर कुछ समय के बाद जनता ऊब-सी गयी। ईसा पूर्व छठी सदी में बुद्ध का जन्म हुआ। उन्होंने एक नये मार्ग का प्रचार किया, जो बौद्ध-धर्म कहलाया। बुद्ध के अनुयायी ईश्वर से उदासीन रहे।

वेदों की प्रामाणिकता न मानी गयी। एक नये धार्मिक मार्ग (मध्यम मार्ग) की बात बतलाकर बुद्ध ने सभी का ध्यान अपनी ओर खींचा। मगध के राजा बुद्ध के अनुयायी हो गये। इस प्रसंग में अशोक का नाम लिया जा सकता है। उन्होंने इसका खूब प्रचार किया; परन्तु अशोक के उत्तराधिकारी कमजोर पड़ गये और समय पाकर फिर ब्राह्मण-धर्म का पुनरुत्थान हो गया।

उत्तर में शुंग तथा दक्षिण भारत में सातवाहन-राजाओं ने ब्राह्मण-धर्म का पुनरुत्थान किया था। इतना होते हुए भी लोग धर्मांध न थे। शासकों में सहिष्णुता थी। प्रजा को स्वतंत्रता थी कि वह किसी मत को माने। अशोक ने सभी धर्मों को बसाने की आज्ञा दे रखी थी। उसके शिलालेखों में इसका वर्णन मिलता है। उसका हृदय विशाल था। उसकी प्रजा किसी अन्य धर्म की शिकायत भी न कर सकती थी। समाज में आराध्य देव के प्रतीक (चिह्न) की पूजा चल निकली। अशोक ने बौद्ध-धर्म के चिह्नों को अपनाया।

सिंह-स्तम्भ (सारनाथ)

अशोक के राजचिह्न में तीन शेर की आकृति थी, जिसे स्वतंत्र भारत ने अपना राजचिह्न बनाया है। उसने स्तूप तथा मठ अनगिनत संख्या में बनवाये थे। आजकल की खुदाई में उनके खंडहर अथवा भग्नावशेष मिले हैं। गिरे भवनों की पुरानी कहानियाँ सुनकर ही उस समय के धार्मिक वातावरण का अनुमान किया जा सकता है। अशोक-स्तम्भ तो अभिलेख खोदने

के लिए तैयार किये गये थे; परन्तु उनको स्थापत्य-कला में प्रथम स्थान दिया जाता है। स्तम्भों के सिरे पर अश्व, बैल या शेर की आकृतियाँ मिलती हैं, जिनके देखने से पता चलता है कि कलाकारों ने कितनी सजीव मूर्तियाँ तैयार की थीं। स्तम्भ पर का पालिश(वज्रलेप) अद्वितीय है। स्थापत्य-कला में स्तूप का दूसरा नम्बर आता है, जो बुद्ध के अवशेष के ऊपर तैयार किये जाते थे। अशोक के स्तूप सादे थे; पर बाद में अलंकरण-युक्त तैयार किये गये और चारों तरफ तोरण बनाये गये। उन्हीं पत्थरों पर नाना प्रकार की कलामय खुदाई दिखलाई पड़ती है।

अशोक की लाट
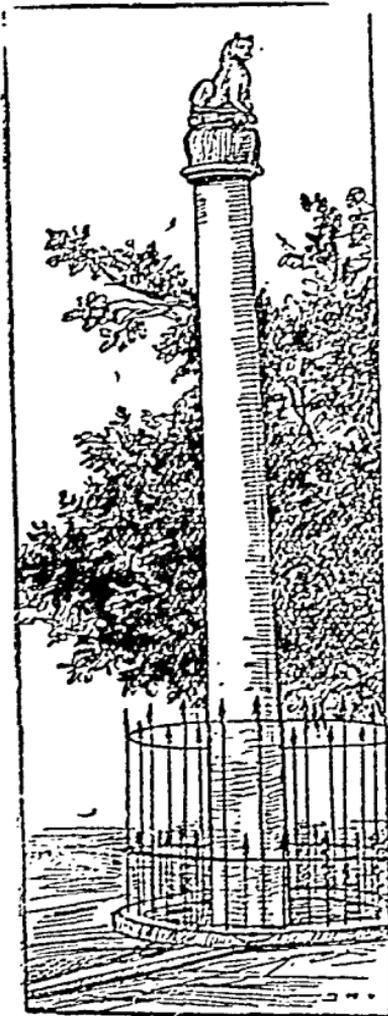
भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश पर शक और कुषाणों का जब अधिकार हुआ और वे यहाँ बस गये तो भारतीय संस्कृति की छाप उनपर भी पड़ी और स्थानीय समाज में वे मिला लिये गये। पहले से प्रचलित शैव-मत को उन्होंने अपनाया। यही कारण है कि उनके सिक्कों पर शिव तथा नन्दी की आकृतियाँ मिलती हैं। कुषाण से लेकर ससैनियन वंशी सिक्कों पर शिव की आकृति मिलती है। ईसवी सन् के आरम्भ में बौद्ध-धर्म के प्रतिद्वन्द्वी अन्य धर्म सामने आ गये। ब्राह्मण-धर्म का

गुप्तकालीन सिक्के

प्रचार हो गया था। महाभारत में कथित भागवत-धर्म ने जोर पकड़ लिया। कनिष्क ने चौथी बौद्ध-सभा को बुलाकर धर्म को सबल बनाने का प्रयत्न किया, पर वह कारगर न हो सका। भागवत-धर्म ने ऐसा प्रभाव जमाया कि बौद्ध-धर्म में भेद उत्पन्न हो गया। उससे प्रभावित मत महायान के नाम से विख्यात हुआ। महायान तथा भागवत-धर्म में काफी साम्य था। उसमें भक्ति की अधिकता थी। भक्ति की प्रधानता से पूजा में वृद्धि हुई। सभी देवताओं की मूर्त्तियाँ बनने लगीं। हिन्दू-मत के प्रभाव के कारण मूर्ति-कला का भारत में विकास हुआ।

गुप्त-काल में कोई शिव की पूजा करता था, तो दूसरे लोग विष्णु की उपासना करने लगे। गुप्त-नरेश स्वयं विष्णु-पूजक थे, इसलिए उन्हें परमभावगत की उपाधियाँ मिलीं। राजाओं ने अपने झण्डे पर विष्णु के वाहन गरुड़ की मूर्ति बनवायी, जिसे सारे सामंत और अधीन राजाओं ने ग्रहण किया। गुप्तवंश के सिक्कों पर भी गरुड़ध्वज बनाया गया था। विष्णु-पूजा का अधिक जोर था, इसलिए कलाकार पूजा के लिए सुन्दर प्रतिमाओं को तैयार करने लगे। शक्ति की पूजा प्रचलित होने के कारण देवियों की मूर्त्तियाँ भी बनायी जाने लगीं। गुप्त-राजा कट्टर वैष्णव न थे। उनके राज्य में सभी देवताओं की पूजा होती थी। वराह, नरसिंह, मत्स्य, राम आदि अवतारों की पूजा भी होनी शुरू हुई। उस समय पंचदेव की पूजा घर-घर में होती थी। शिव, विष्णु, दुर्गा, सूर्य तथा गणेश को पंचदेव कहा जाता था। इन देवताओं को भारतीय कला में प्रमुख स्थान दिया गया।

आश्चर्य की बात है कि वैष्णव-धर्म के राज-धर्म हो जाने पर भी कला में पूजा के निमित्त बौद्ध मूर्त्तियाँ बनती रहीं। भागवत-मत के प्रभाव से उनलोगों में भक्ति की बात आने लगी और बुद्ध की

मूर्त्तियाँ बनीं, जिसे विहार या मठ में स्थापित किया जाता था। जब हिन्दू लोग देवियों की पूजा करने लगे तो बौद्धों ने उनकी नकल पर तारा नामक देवी का प्रचार किया। मठों में, भीति-चित्रों में तथा हस्तलिखित पुस्तकों पर तारादेवी की आकृति मिलती है। बुद्ध की जन्म-कथाओं में बोधिसत्व अवलोकितेश्वर, अमोघसिद्धि, अमिताभ आदि देवताओं के नाम मिलते हैं, जिनकी मूर्त्तियाँ भी बनने लगीं। सबसे अधिक प्रतिमाएँ गुप्त-काल में बनीं, जब वैष्णव-मत का खूब प्रचार था। विरोधी मत से सम्बन्धित असंख्य मूर्तियों के बनने से यह पता चलता है कि हिन्दू तथा बुद्ध-धर्म साथ-साथ प्रचलित थे। सबसे पहले गांधार (पश्चिमोत्तर प्रान्त) में मूर्तियाँ बनी थीं। गांधार के कलाकार अत्यन्त प्रवीण थे। उन्होंने दूसरों को भी कला की शिक्षा दी। मथुरा के लोगों नें उनसे सीखा। चूँकि मथुरा के निकट सफेद चित्तीदार लाल पत्थर खान से निकलते थे, इसलिए गांधार-कला को लेकर भी प्रस्तर को बदलना पड़ा।

सारनाथ ऐसा केन्द्र था, जहाँ से हिन्दू तथा बौद्धमत दोनों बढ़ते रहे। यहीं से भगवान बुद्ध ने अपने धर्म का प्रचार आरम्भ किया था। यही कारण है कि सारनाथ में प्राप्त बुद्ध की मूर्त्ति धर्मचक्र परिवर्त्तन मुद्रा में मिलती है। भगवान बैठे हैं और दाहिने हाथ की अँगुलियों से शिक्षा दे रहे हैं। शिष्यगण नीचे बैठे हैं तथा सारनाथ का प्रसिद्ध जानवर मृगा भी प्रस्तर पर खुदा है। नालंदा में ताम्बे या काँसे की भी अनेक मूर्त्तियाँ बनीं। बंगाल में पालवंशी राजा बौद्ध थे, इसलिए चिकनी-काली प्रतिमाएँ उनके राज्यकाल में बनती थीं। क्रमशः बौद्ध-धर्म का ह्रास होता गया और मूर्तियाँ बनाने का काम ढीला पड़ गया। यही नहीं, हिन्दू-धर्म ने बुद्ध को भी विष्णु का अवतार घोषित किया और सबको अपना लिया। आश्चर्य तो यह है कि घर में बौद्ध-धर्म की अवनति

हो रही थी; लेकिन विदेशों—चीन तथा जापान—में उसका विकास हो रहा था। सातवीं सदी के बाद तिब्बत और मध्य एशिया में बौद्ध-मत ने जोर पकड़ा—यहाँ तक कि मंगोल-सरदार बौद्ध हो गये थे।

बोधिसत्व (अजन्ता की चित्रकारी)

गुप्त-शासकों के बाद (यानी छठी सदी के बाद) दोनों मतों में मेल था। बौद्ध तथा ब्राह्मण धर्मावलम्बी सद्भावना के साथ काम करते थे। कहीं झगड़े भी थे। हर्ष पहले शैव होकर फिर बौद्ध हो गया। बंगाल में पाल के बाद सेन ब्राह्मण-धर्म के माननेवाले हो गये। गीतगोविन्द के गीत गाकर जयदेव ने दशावतार की कहानी सबको सुनायी, जिसमें बुद्ध भी अवतार माने गये थे। जहाँ तक कला का सम्बन्ध है, सर्वत्र गुप्त-राजाओं ने उस कार्य में

हाथ बँटाया था। बाद के राजाओं ने भी उसे आगे बढ़ाया। पाल-
राजा बौद्ध थे; परन्तु उनके राज्य में जितनी हिन्दू-मूर्त्तियाँ बनीं,
उनका अन्दाजा नहीं लगाया जा सकता। भगवान विष्णु, सरस्वती
तथा लक्ष्मी के साथ खड़े दिखलाये गये हैं। गले में वनमाला है
और शंख, चक्र, गदा, पद्म लिये त्रिभंगी रूप में खड़े हैं। सूर्य की
सुन्दर मूर्त्तियाँ कमल लिये खड़ी बनायी गयी हैं। आधार-शिला
पर सात घोड़ों की आकृति सूर्य के सात घोड़ेवाले रथ की याद
दिलाती है। विशेषता यह है कि कलाविदों ने देवता के साथ
देवियों की भी मूर्त्तियाँ उसी पत्थर पर खोदीं, ताकि प्रकृति-पुरुष
का दार्शनिक सिद्धान्त चरितार्थ हो सके। कुछ विद्वान् शिव-
पूजा को अनिवार्य भी समझते हैं। सर्वप्रथम लिङ्गपूजा होती थी;
पर बाद में एकमुख-लिङ्ग तथा चतुर्मुख-लिङ्ग की पूजा होने लगी।
शिव को पार्वती के साथ भी प्रदर्शित किया गया था। अर्द्ध-
नारीश्वर रूप अंतिम अवस्था को बतलाया है। पूर्व मध्ययुग के
बाद प्रायः सभी देवों की प्रतिमाएँ बहुमुखी बनने लगीं और
हाथों में आयुध को भी स्थान दिया गया। विष्णु की ऐसी ही
मूर्तियाँ मिलती हैं। इस काल में युगलमूर्त्ति की प्रधानता थी।

गुफाओं में प्रतिमा को स्थापित कर दीवाल तथा स्तम्भों को
भी अलंकृत किया जाता था। पश्चिम भारत में ऐसी गुफाओं
की संख्या अनेक हैं। संसार-प्रसिद्ध अजंता का नाम सभी
जानते हैं। वहाँ दीवालों पर लेप लगाकर अत्यन्त सुन्दर चित्र
खींचे गये हैं, जिनका विषय तो बौद्ध था; पर सामाजिक विषयों
के अतीव सुन्दर चित्र अजंता-गुहा में हैं। दूसरे प्रकार की
गुफाएँ ऐसी थीं, जो विशाल पहाड़ी चट्टानों को खोदकर
तैयार की गयी हैं। एलेफेन्टा तथा इलोरा की गुफाएँ जीवित
उदाहरण हैं। उन्हीं गुफाओं में चट्टानों में विशाल शिव की

प्रतिमाएँ बनायी गयी हैं। एक ही पहाड़ को खोदकर मूर्तिमय गुफा बनाना संसार की एक विचित्रता है।

आठवीं सदी के बाद स्थापत्य-कला ने प्रधानता प्राप्त कर ली। मंदिरों की दीवालों को अलंकृत करने में कलाविद् अपनी निपुणता का परिचय देते थे। पृथक् से पत्थरों पर खुदाई का काम प्रायः बंद हो गया। दक्षिण भारत के तंजोर-मंदिर, खजुराहो तथा भुवनेश्वर के मंदिर उस कला को व्यक्त करते हैं। पूर्व-मध्ययुग में मंदिर बनाने की बाढ़-सी आ गयी थी। उन मंदिरों तथा दानों का वर्णन उस

अजन्ता की चित्रकारी

समय के ताम्र-पत्रों पर खुदा है। जो देवालयों को दान दिये जाते, उन्हें लौटाने की मनाही थी। उसी लेख के अन्त में यह लिख दिया जाता था कि जो राजघराने का व्यक्ति उस दान को वापस लेगा, वह घोर नरक में पड़ेगा। इस कारण मंदिरों की सम्पत्ति को लोग छूते न थे। पूजा-पाठ, राग-भोग आनन्दपूर्वक चलता था।

बौद्ध-धर्म अथवा हिन्दू-धर्म में तीसरी सीढ़ी तंत्र-मत की है। तंत्र तो पुराने जमाने से चला आ रहा था; परन्तु उस तंत्र का रूप बिलकुल बदल गया। बौद्ध-धर्म तंत्रयान या वज्रयान के नाम

से प्रसिद्ध हुआ। यह तिब्बत में फैला, जहाँ नाना प्रकार के तंत्र तथा बीज-मंत्र ने पूजा-विधि में परिवर्त्तन ला दिया। बंगाल तथा आसाम इसके केन्द्र थे। दसवीं सदी के बाद तंत्रयान ने कला में परिवर्तन ला दिया। इसमें शक्ति की ही प्रधानता थी। बंगाल में सहजिया नामक पंथ चला, जिसमें बौद्ध तथा वैष्णव सहजिया को मिलाकर काम करते रहे। नवीं
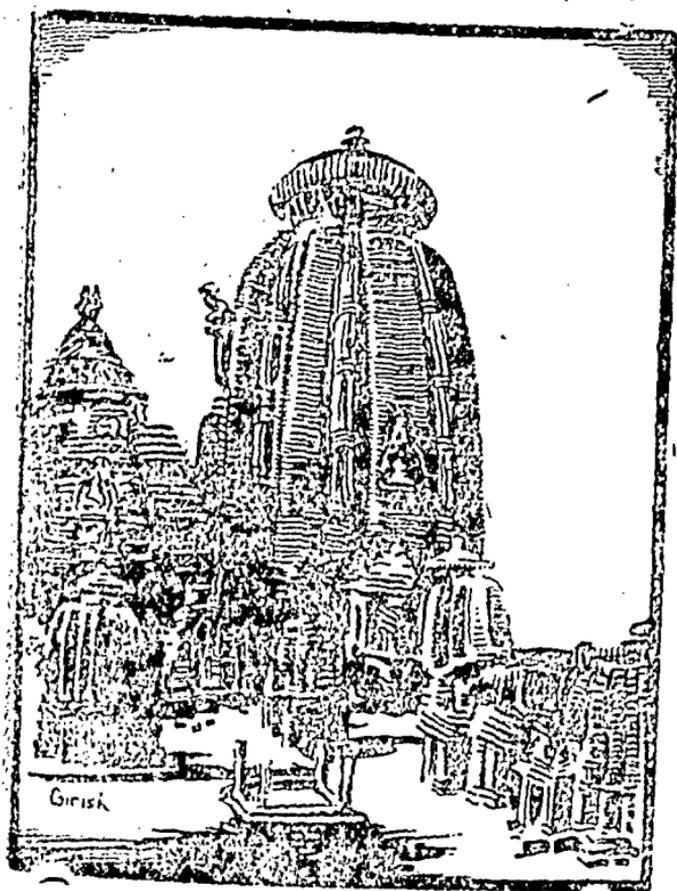
भुवनेश्वर का मंदिर

सदी के बाद सिद्धों ने (साधुओं ने) उत्तरी भारत में नया मत चलाया, जो आगे चलकर नाथ-पंथ के नाम से विख्यात हुआ। भारत, नेपाल तथा तिब्बत में तंत्र-मंत्र से लोग अधिक प्रभावित हुए और मिल-जुलकर एक हो गये। हिन्दू-मूर्त्तियों का ही बोल-बाला रहा। तांत्रिक मत में हिन्दू-बौद्ध के समन्वय से वातावरण शांत हो गया।

हमारे संत

पूर्व मध्य-युग में तंत्रमत के प्रभाव से बौद्ध-धर्म में तीसरा यान तंत्रयान वा वज्रयान पैदा हो गया, जिसका प्रभाव अन्यत्र भी पड़ा। विदेशी आक्रमणों के प्रभाव से बाद के राजपूत-राजा अहिंसापरक धर्म के विरोधी हो गये और जनता में भी अविश्वास की लहर दौड़ पड़ी। ऐसे तथा अन्य कई कारणों से बौद्ध-धर्म का ह्रास होने लगा। दसवीं सदी में शंकराचार्य वैदिक धर्म का आश्रय लेकर लोगों में ज्ञान की शिक्षा देने लगे और दक्षिण भारत से उत्तर भारत तक उन्होंने भ्रमण कर बौद्धों के विरुद्ध आंदोलन किया। वह समय था, जब मुसलमान भारत में बस गये थे। सर्वप्रथम अरब-विजेता भारतवासियों को भय दिखाकर कुछ संख्या में लोगों को इस्लाम-धर्म में दीक्षित कर सके थे; लेकिन यह कार्यक्रम अधिक दिनों तक चल न सका। स्मृतिकारों ने इस तरह से हिन्दू-जाति के ह्रास को रोकने के लिए धार्मिक निर्णयों को ढीला कर दिया और हिन्दू-धर्म में शुद्धि की प्रथा प्रचलित कर दी। इस कारण हिन्दू-जाति में में दो वर्ग हो गये। पहला वर्ग कट्टरपंथियों का था, जो पुराने कठिन नियमों में बँधा रहना पसंद करता था और दूसरा दल सुधारक-वर्ग का था। कट्टरपंथियों ने श्रुति की शरण ली। हिन्दू-धर्म को पुराने ढंग पर ही चलाने के लिए अनेक प्रयत्न किये गये। साथ ही इस्लाम-मत के प्रचार को रोकने के लिए भी कठोर नियम बनाये गये। दक्षिण भारत

के विजयनगर-राज्य के मंत्री माधव ने बड़े-बड़े ग्रंथों को लिखकर पुरानी परिपाटी का समर्थन किया था। सुधारकों का वर्ग इस्लामी संस्कृति से प्रभावित हुआ था। ब्रह्ममय अद्वैतवाद को समझने की शक्ति उनमें नहीं थी। दोनों धर्मावलम्बी एक-दूसरे से प्रभावित हुए, इसलिए परस्पर मेल से रहने लगे। यों तो मुसलमान खलीफा ने भारत से अरब में विद्वानों को बुलाकर पश्चिम में विद्या तथा ज्ञान का प्रसार कराया था; परन्तु भारत में भी रहकर वे कम प्रभावित न हुए। भारतीय दर्शन के कारण उनमें एकेश्वरवाद की लहर बह चली; सूफी लोगों ने प्रेम-भाव से हिन्दुओं को प्रभावित किया। हिन्दू तथा मुसलमान एक-दूसरे साधु को मानने लगे जिस कारण भारत में सत्यपीर की पूजा चल पड़ी। यह हिन्दू-मुस्लिम मिलन का प्रभाव था।

इस बदली हुई परिस्थिति में भारत में अनेक महात्मा हुए, जिन्होंने सरल मार्ग बतलाकर जनता का ध्यान धर्म की ओर आकर्षित किया। वह सरल मार्ग भक्ति का था। हिन्दू-धर्म में इसे वैष्णव-धर्म का आंदोलन कहते हैं। लोगों को परिस्थिति का ज्ञान कराकर विष्णु भगवान की पूजा करने की विधि बतलायी गयी। इस प्रकार शुष्क ब्रह्मज्ञान की ओर न जाकर जनसाधारण भक्ति-पूर्वक भगवान (साकार ब्रह्म) की पूजा करने लगा। इस पूजा-पाठ में जातियों का भेद रुकावट न डाल सका और द्विजमात्र इसमें लग गये। वैष्णव-आंदोलन के कारण हिन्दुओं से निराशा जाती रही। रामानुज ने लोगों को बताया कि भगवान में आस्था रखना आवश्यक है। उनकी भक्ति-भाव से पूजा करने पर लोक का कल्याण होगा। सगुण ब्रह्म की बातें जनता भी समझ सकी। दक्षिण भारतीय होने पर भी रामानुज ने उत्तर भारत में काशी तक अपने विचारों को फैलाया।

वैष्णव-धर्म के तत्कालीन विकास में महाप्रभु चैतन्य तथा वल्लभाचार्य के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। चैतन्य का उपदेश बंगाल में फैला। वल्लभाचार्य दक्षिण के तैलंग ब्राह्मण थे, पर उनका विद्याध्ययन मथुरा में हुआ था। अन्त में काशी में रहकर उन्होंने कई पुस्तकें भी लिखी थीं। ये निम्बार्क-सम्प्रदाय के समर्थक थे। भक्ति-क्षेत्र में रामानुज के बाद निम्बार्क ने विष्णु तथा लक्ष्मी (ईश्वर-माया) की द्वैत भावना को आगे बढ़ाया और इनके स्थान पर कृष्ण तथा गोपी की पूजा स्थापित करायी। वल्लभाचार्य इसी मत को मानकर माधुर्य भाव से कृष्ण की उपासना की ओर झुके। उनका सिद्धान्त शुद्धाद्वैत कहलाता है। उनका कहना था कि माया के कारण जो विभेद पाया जाता है, उसका निराकरण भक्ति द्वारा कर सकते हैं। उन्होंने व्रत-उपवास के कष्टसाध्य नियमों के स्थान पर पवित्र प्रेम की भावना जाग्रत की।

भक्ति का मार्ग प्रशस्त होता गया ; पर यह ऊँची श्रेणी के लोगों तक ही सीमिति था। एक तो द्विजाति मात्र में ही इस भक्ति का प्रसार सीमित था और दूसरे इन आचार्यों ने संस्कृत भाषा में ही सब कुछ लिखा, जिसे अधिकतर लोग समझने में असमर्थ रहे। यद्यपि भक्ति के प्रवाह से हिन्दू-जनता अपने लौकिक परिस्थिति को भूल गयी थी और उनकी निराशा का भी परिहार हो गया था; पर वह लोक-व्यवहार से परे रही। रामानुज के सगुण ब्रह्म (विष्णु) व्यवहार से पृथक् रहे। निम्बार्क के कृष्ण खेलते रहे ; परन्तु उनसे संसार के जटिल प्रश्नों का निपटारा न हो सका। एक तो संस्कृत में प्रतिपादित भक्ति-ज्ञान ठीक तरह से लोगों तक पहुँच न पाया और दूसरे द्विजाति के सिवा शूद्र-अन्त्यज इस भक्ति के अधिकारी न थे। इसी अवसर पर स्वामी रामानन्द ने संसार की बाधा मिटानेवाले, दुष्टों को मार भगानेवाले, निषाद को गले लगाने-

वाले तथा आदर्श गृहस्थ राम का गुणगान प्रारम्भ किया। विष्णु या कृष्ण के स्थान पर राम की भक्ति चल पड़ी। इनमें जाति का भेद-भाव न था। इस प्रकार मध्यकाल में भक्ति का प्रवाह जन-साधारण, घर-घर तथा ब्राह्मण से शूद्र तक फैल गया। रामानन्द ने जाति-पाँति को मिटाकर जो भक्ति-मार्ग दिखलाया, उससे साधुओं में एक नया दल पैदा होता गया, जिसे संत कहते थे। भगवान की उपासना में सबको एक समान मानने पर हिन्दू तथा मुसलमान दोनों में आशा की नयी तरंगें लहरायीं। संतों ने भेदभाव मिटाकर उपासना में निर्गुण ब्रह्म की शरण ली, जिसमें हिन्दू-मुसलमान सभी सम्मिलित हो सकते थे। समाज का मतभेद काफी ढीला पड़ गया। जनता पर संतों के प्रभाव का एक कारण यह भी था कि उन्होंने लोक-भाषा का व्यवहार किया, जिसे घर-घर में लोग समझ सकें। विभिन्न प्रान्तों में अलग-अलग आचार्यों (संतों) ने विभिन्न लोकभाषाओं का व्यवहार किया, जो आगे चलकर प्रांतीय भाषाएँ बन गयीं।

जिस समय संत लोगों ने निर्गुण-भक्ति की धारा प्रवाहित की, उस समय ऊँच-नीच के भाव हिन्दुओं में भरे थे। जो जातियाँ पददलित थीं, उन्होंने मुसलमान-धर्म में समभ्रातृभाव को देखा। अतएव अपनी हीन अवस्था से ऊबकर प्रतिष्ठा के लोभ से निम्न वर्ग के लोग इस्लाम-धर्म ग्रहण करना चाहते थे और कर रहे थे। ऐसे समय में रामानंद ने भेदभाव को मिटाकर सबके लिए भक्ति-मार्ग खोल दिया। संतों में नामदेव दरजी, रैदास चमार, दादू धुनियाँ, कबीर जुलाहा आदि के नाम सर्वप्रसिद्ध हैं। संतों ने पारस्परिक द्वेष-भावना को मिटाया तथा हिन्दू-मुसलमान को एक बनाने में प्रयत्नशील रहे। निर्गुण भक्ति का ही एक मार्ग था, जिससे हिन्दू-मुसलमान मिल सके। संत-सम्प्रदाय में वर्णभेद तथा नीच-ऊँच का

व्यवहार न रहा। पुरुषों के समान स्त्रियाँ भी भक्ति की अधिकारिणी मानी गयीं; इसलिए रामानंद ने पद्मावती तथा सुरसरी को शिष्या बनाया था। आगे चलकर मीराबाई तथा सहजोबाई भी भक्त-संतों में विख्यात हुईं। संतों ने नाम, शब्द तथा सद्गुरु आदि की महिमा गायी और मूर्त्तिपूजा, अवतारवाद तथा कर्मकाण्ड का विरोध किया।

वास्तविक तत्त्व पर विचार किया जाय, तो पता चलता है कि

महात्मा कबीर

संत लोग निर्गुण-ब्रह्म के ज्ञान-मार्ग पर चलनेवाले थे और साथ भक्ति का भी आश्रय लिया था।

जातिपाँति पूछे ना कोई

हरि को भजे से हरि का होई।

इन सबका मूल कारण सामाजिक परिस्थितियाँ थीं। संत हिन्दू-मुसलमान के फूट को मिटाना चाहते थे। उन्होंने किसी

नामधारी धर्म से अपने को नहीं बाँधा और संकीर्ण सांप्रदायिकता का खण्डन किया। उनपर हिन्दुओं के पौराणिक विचारों का प्रभाव अवश्य पड़ा। उनलोगों ने सगुण-उपासना के उपचार— माला, आसन तथा कमण्डल ग्रहण किया। पीछे चलकर वैष्णव आचार्यों के मार्ग पर संत के अनुयायी चलने लगे।

कबीरदास उत्तर भारत में संत-मत के प्रवर्तक थे। इनका लालन-पालन जुलाहा-परिवार में हुआ था। वे रामानंद के शिष्य थे, पर कुछ लोग शेख तक़ी सूफी को उनका गुरु मानते हैं। उन्होंने कबीरपंथ की एक पृथक् शाखा चलायी। वे भक्त थे और भक्ति के बिना योग तथा ज्ञान को व्यर्थ समझते थे। कबीर की वाणी में उपास्यदेव के लिए जो संकेत मिलते हैं, वे केवल आभास के रूप में और रहस्यात्मक हैं। उनकी रहस्यमयी उक्तियाँ स्थान-स्थान पर बड़ी विलक्षण मालूम पड़ती हैं। एक स्थान पर कबीर ने कहा—

"कंठी बाँधे हरि मिलें तो कबीरा बाँधे हेंगा।"

दूसरे स्थान पर—

कंकड़ पत्थर जोड़ कर मसजिद लियो बनाय,
तापर मुल्ला बाँग दे क्या बहिरा भयो खुदाय।

इसी तरह उन्होंने एक स्थान पर अपने को 'राम का बहुरिया' कहा है। उस समय हिन्दू-मुसलमान के सम्मुख संतों की शांतिमयी वाणी ने बड़ा काम किया। समाज में ऊँचे वर्ग के हिन्दू उनके विरोध में बने रहे; पर निम्न श्रेणी का बड़ा भारी कल्याण इन संतों ने किया था।

बंगाल में चैतन्य महाप्रभु ने उसी परम्परा को आगे बढ़ाया। सर्वत्र भजन तथा कीर्तन को ही प्रोत्साहित किया और जीवन में उसे चरितार्थ किया। संसार को छोड़कर थोड़ी ही अवस्था में चैतन्य ने कृष्ण-भक्ति का नारा बुलंद किया था। जाति का विचार

उनके सामने कोई महत्त्व का न था। वे दक्षिण भारत, वृन्दावन तथा पुरी आदि स्थानों में घूमते और सर्वत्र कीर्त्तन करते रहे।

पंजाब में नानक का नाम भी उसी तरह लिया जाता है। खत्री परिवार में पैदा होकर उन्होंने सांसारिक सहिष्णुता का ज्ञान सबको बतलाया। हिन्दू तथा इस्लाम धर्मों की अच्छी बातों को लेकर नानक ने एक नया सम्प्रदाय चलाया जिसे सिक्ख मत कहते हैं। उनका ध्येय था कि दोनों धर्मों का विरोध मिटा दिया जाय। इस विचार से उन्होंने एक ईश्वर की सत्ता का पाठ अपने अनुयायियों को सुनाया। यद्यपि नानक मुसलमानों के विरोधी न रहे, परन्तु उनके शिष्यों की कहानी लम्बी और भिन्न है। सिक्ख मत में समयानुकूल परिवर्त्तन होते गये। नानक-रचित ग्रंथ (ग्रंथ साहब) में सभी बातें मौलिक रूप में ही हैं; पर राजनीतिक कारणों से सिक्खों के व्यवहार कुछ भिन्न हो गये। नानक साहब ने हठधर्म तथा धर्म-सुख के मध्यम मार्ग का अवलम्बन किया था और अपने अनुयायियों को पाखण्ड, स्वार्थान्धता तथा असत्य-भाषण से दूर रहने की शिक्षा दी थी। सिक्ख-धर्म के मार्मिक विचारों के कारण अनेक मुसलमान इस धर्म में दीक्षित हो गये। यद्यपि उनमें जाति-पाँति का भेद नहीं आ सका, पर उसमें कर्मकाण्ड की प्रधानता थी। सिक्खों में गुरु-ग्रंथ साहब की पूजा मूर्ति की तरह की जाती है।

गुजरात प्रांत के दादूदयाल भी संतों में गिने जाते हैं। ये मोची या धुनिया बतलाये जाते हैं। यद्यपि इन्होंने एक अलग पंथ चलाया पर सिद्धान्त कबीर से ही ग्रहण किये। इनकी मृत्यु जयपुर प्रांत के अन्तर्गत हुई। वही प्रदेश दादू-पंथ का केन्द्र है।

मलूकदास के नाम से प्रसिद्ध दोहा 'अजगर करै न चाकरी पंछी करै न काम' सभी ने सुना होगा। ये इलाहाबाद के निवासी थे।

इनकी वाणी वैराग्य तथा प्रेम आदि को व्यक्त करती है। सुन्दर-दास दादू के शिष्य-परम्परा में थे।

विट्ठल-मन्दिर में कीर्त्तन करते-करते उन्होंने शरीर छोड़ा। उस धारा में दूसरे संत श्रीज्ञानेश्वर थे। उन्होंने समस्त तीर्थों में भ्रमण किया था। महाराष्ट्र में ज्ञान तथा भक्ति की धारा बहाने का श्रेय ज्ञानेश्वर को है। आज भी उनकी समाधि पर मेला लगता है।

तीसरे संत एकनाथजी हैं। यद्यपि बालपन में ही उदास होकर उन्होंने गृह त्याग दिया था; पर गुरु के कहने पर गृहस्थ बने। रात-दिन भजन में ही समय बीतता रहा। उनके लिए ब्राह्मण तथा अछूत सब बराबर थे। सबके यहाँ भोजन कर लेते और "राम-कृष्ण-हरि" का नाम-मंत्र दिया करते थे। इस तरह महाराष्ट्र में संत-वाणी फैलने लगी। संत तुकाराम भी विट्ठल के परम भक्त थे। युवावस्था से वे संसार से उदासीन रहे; पर उन्होंने गृहस्थी के कामों से मुख नहीं मोड़ा। उन्होंने भी भगवान के कीर्त्तन में अपना समय बिताया था।

शिवाजी के गुरु श्रीसमर्थ रामदास का नाम महाराष्ट्र में बहुत प्रसिद्ध है। इनका परिवार भगवान की अर्चना में रहा करता था। बालक रामदास विवाह के बाद ही घर छोड़कर तपस्या करने लगे। उन्होंने पंचवटी में तपस्या की और बारह वर्षों के बाद सभी तीर्थों की यात्रा की। बाद में उन्होंने रामदासी मठ की स्थापना की। रामदास के दर्शन करने पर शिवाजी ने सब कुछ उन्हें अर्पण कर दिया और गुरुदेव के पीछे भक्तिपूर्वक घूमना आरम्भ किया। ऐसा कहा जाता है कि समर्थ रामदास के कहने पर शिवाजी राजकाज करने लगे थे। रामदास तथा उनके शिष्य "जय-जय श्री रघुवीर समर्थ" पुकारा करते थे। उनका यही नारा सारे महाराष्ट्र में गूँज गया था। रामदास के साथियों में धर्मप्रेमी

तथा भगवत्परायण लोग थे। उनका अद्भुत संगठन था। आज भी सजनगढ़ में उनकी समाधि पर लोग प्रति वर्ष इकट्ठे होते हैं।

संत-परम्परा की वार्त्ता बड़ी पुरानी है। कबीर साहब से भी पहले आठवीं-नवीं सदी में भारत में अनेक सिद्ध हुए हैं। संत महापुरुष नाम, वर्ग या जाति से परे माने जाते रहे। उन्हीं लोगों में से गोरखनाथ नामक महात्मा हो गये हैं, जिनके शिष्य नाथपंथी कहलाये। महाराष्ट्र-संतों के मुकुट ज्ञानेश्वर महाराज इसी नाथ-सम्प्रदाय की परम्परा में हैं। बौद्ध-काल में योग की साधना तंत्र के नाम पर बहुत विकृत हो गयी थी। शास्त्रीय हठयोग को चलाने का श्रेय गोरखनाथ को ही है। इस पंथ के अनेक अनुगामी सिद्ध कहलाये। यह कहा जाता है कि हिन्दी के आरम्भिक काल में सिद्धों ने काफी काम किया। एक तरह से हिन्दी की उत्पत्ति उनकी रचनाओं से ही हुई। आगे चलकर संतों ने अपने उपदेश में हिन्दी का प्रयोग किया।

हमारा मध्यकालीन समाज

पूर्व-मध्यकाल में भारतीय समाज चार वर्गों में विभक्त था। ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य विभिन्न कारणों से उपजातियों में बँट गये थे। ब्राह्मण गोत्र, शाखा तथा भोजन की विभिन्नता के कारण विभक्त होते चले जा रहे थे। समाज के अगुआ तो थे वे, पर तंत्र-मंत्र और अन्धविश्वासों में फँस गये थे। प्राचीन ब्राह्मण-शक्ति का लोप हो गया था। स्थानीय नरेशों का आपस में मेल न था, इसलिए विदेशी आक्रमण का संगठित विरोध न हो पाया। मुसलमान-विजेताओं ने उनको परास्त कर उनके प्रभाव तथा यश को मिटा दिया। वैश्य पुराने समय से ही व्यापार में लगे रहे। लेकिन उनमें विभिन्न कारीगरी अथवा व्यवसाय के नाम पर अनेक उपजातियाँ उत्पन्न हो गयीं। जातियों में कट्टरपन घुस गया और एक दूसरे ने आपस में खान-पान तथा वैवाहिक सम्बन्ध त्याग दिया। तत्कालीन समाज में शूद्र तथा अंत्यजों के लिए कोई स्थान न था। पहले बौद्ध-संघों में जो लोग थे, उनमें विलासिता तथा अनाचार पैदा हो गया। अतएव शूद्रों को सर्वत्र निम्न श्रेणी में रहना पड़ा। सगुण ब्रह्म की उपासना रामानुज ने चलायी; पर वहाँ भी भगवान के सामने शूद्रों के लिए कोई स्थान न मिला। अतएव ऊँच-नीच का भेद जोरों पर था। इस बुरी दशा में रामानन्द ने जाति-पाँति के भेद-भाव को मिटाकर सबमें भ्रातृ-भावना पैदा करने

का स्वर ऊँचा किया। उनके राम सबके लिए आदर्श थे। अछूतों में हिन्दू-धर्म के प्रति श्रद्धा तथा भक्ति पैदा की। रामानन्द की शिष्य-परम्परा में चमार, दरजी, जुलाहा आदि सभी ले लिये गये थे। इस प्रकार समाज धीरे-धीरे स्थिर होने लगा।

इस तरह हिंदू-समाज असंगठित था। उधर मुसलमान शासकों में विलासप्रियता बढ़ गयी थी। समाज में धार्मिक शिथिलता के कारण अंधविश्वास ने घर कर लिया था। धनी हिन्दू भी गौरवहीन होकर विलासप्रिय होते जाते थे। कट्टर पंडित इन्हें म्लेच्छ कहकर पुकारते, जिस कारण वे लोग भी मुसलमानों द्वारा नीची निगाह से देखे जाते रहे। तिरस्कार-स्वरूप हिन्दुओं पर जजिया कर लगाया गया। उनका जान-माल अनिश्चित अवस्था में हो गया था तथा न्याय की कोई आशा न रही। यह कहा जा चुका है कि संत-मत के कारण कुछ सामाजिक संघर्ष ढीला पड़ गया और परस्पर भ्रातृ-भावना से वातावरण शांत होता गया। हिन्दुओं के रहन-सहन में भी अन्तर आ गया। स्त्रियों के लिए परदा का रिवाज चल पड़ा। इससे भी ज्यादा सती-प्रथा और जौहर की बात सुनने में आती है। पुराने समय में स्त्रियाँ पति के मरने पर सती हो जाती थीं। यद्यपि मध्यकाल में भी इसका प्रचार था ; पर जौहर की प्रधानता थी। युद्ध में सिपाहियों के मर जाने अथवा शत्रुओं द्वारा किले पर चढ़ाई हो जाने पर हिन्दू-स्त्रियाँ अपने सतीत्व की रक्षा करने के लिए आग में कूद जातीं और जलकर भस्म हो जाती थीं। यह हिन्दू-संस्कृति की विशेषता है। संसार में इस तुलना की कोई घटना न मिलेगी। दूसरी प्रथा बाल-विवाह की थी। बालिकाओं की प्रतिष्ठा की रक्षा के निमित्त आठ वर्ष की अवस्था में विवाह कर दिया जाने लगा। महाराष्ट्र में समाज तथा धर्म पर निगरानी रक्खी जाने लगी, जिससे बाल-विवाह तथा दहेज की प्रथा वहाँ पनप

न सकी। ब्राह्मणों को छोड़कर अन्य जातियों में विधवा-विवाह की प्रथा प्रचलित हो गयी थी।

मुसलमानों के सम्पर्क से उत्तरी भारत में अन्तर्जातीय विवाह आरम्भ हो गया। अनेक राजपूत-राजाओं ने अपनी लड़कियों की शादी मुसलमानों से की थी। इसके जो कुछ भी राजनीतिक कारण हों, पर इस तरह की घटनाएँ होती रहीं। संतों की कहानी में यह बात कही जा चुकी है कि दोनों जातियों में समन्वय लाने के लिए कबीर ने बहुत प्रयत्न किये। उसी मार्ग का अनेक लोगों ने अनुसरण किया और पंथ चलाये। इसी तरह सारे देश में भक्ति की धारा बह चली। उत्तर से दक्षिण भारत तक संतों की वाणी गूँज गयी। हिन्दू-मुसलमानों में पारस्परिक सद्भावना तो जरूर पैदा हुई, पर जितना लोग चाहते थे, वैसा व्यवहार में न आ सका। उस समय का समाज कट्टरपंथी था। उत्तर की अपेक्षा दक्षिण में अधिक लोग कट्टर जाति-बन्धन तथा कठोर सीमा में बँधे थे। हिन्दुओं के सम्पर्क से मुसलमानों में भी परिवर्तन आये। सामाजिक हिन्दू-उत्सवों पर मुसलमान सम्मिलित होते थे। मध्यकाल में अलावल नामक मुसलमान वैष्णव-धर्म-संबंधी पद्य लिखता रहा। रहीम खानखाना तथा रसखान की कृष्ण-भक्ति को सभी जानते हैं। अब्दुल्ला खाँ वसंत तथा होली के अवसर पर खुशी मनाया करता था और हिन्दुओं के साथ त्योहार में सम्मिलित होता था। पिछले समय में बंगाल के नवाब सिराजुद्दौला तथा मीरजाफर के होली मनाने की कथा बहुत प्रसिद्ध है। उसमें परिवार के सभी व्यक्ति सम्मिलित होते थे। कितने मुसलमान हिन्दू-रीति से जीवन व्यतीत करते थे। हिंदू लोग भी मुहर्रम के अवसर पर जुलूस में जाया करते थे। इसी तरह दोनों जातियों में सहिष्णुता की भावना काम करती रही।

मुसलमानकालीन समाज में दो प्रकार की श्रेणियाँ हो गयी

थीं। उच्च श्रेणी के धनीमानी व्यक्ति सुखमय तथा गरीब निम्न श्रेणी के लोग कष्टमय जीवन विताया करते थे। मध्यवर्ग का नाम न था। किसान भी निम्न श्रेणी में गिने जाते और उनसे कठोरता-पूर्वक लगान वसूल किया जाता था। उत्तरी भारत में तो हिन्दू-संस्कृति की रक्षा सम्भव न रही; पर दक्षिण में विजयनगर के राजा तथा छत्रपति शिवाजी ने उसकी रक्षा की।

मध्यकाल में जनता की आर्थिक अवस्था का ठीक-ठीक अनुमान नहीं किया जा सकता; पर यात्रियों के वर्णन, पुस्तकों के विवरण तथा कला-सम्बन्धी उदाहरणों से उसका परिचय मिलता है। समाज में निम्न वर्ग के लिए तो भोजन-वस्त्र की कठिनाई थी; पर राजा तथा अधिकारीगण विलासपूर्ण जीवन व्यतीत करते थे। भोजन में सुन्दर-से-सुन्दर पदार्थ प्रयोग में लाते और रेशमी तथा कामदार वस्त्र पहना करते थे। मुसलमानों के सम्पर्क से हिंदू लोग भी लम्बा कामदार कोट, पायजामा तथा कीमती पगड़ी बाँधने लगे। रहने के लिए विशाल महल वैभव से युक्त तथा सारी सुख की सामग्रियों से भरे थे। विजेताओं की लूट की चर्चा सुनकर मालूम होता है कि देश धन-धान्य से पूर्ण था। अन्न अत्यन्त सस्ता था। युद्ध या अकाल के समय भाव बढ़ जाता, पर अधिकतर जीवन बड़ा सस्ता था। तुर्क-सुल्तानों के समय में दो आने मन गेहूँ, पाँच पैसे में एक मन दाल, डेढ़ रुपये मन चीनी तथा घी बिका करते थे। इब्नबतूता ने लिखा है कि ऐसा सस्ता देश कहीं नहीं था। एक छोटा परिवार आठ रुपये में वर्ष भर भोजन कर सकता था। मुगल-काल के अन्त तक सस्ती रहने पर भी निम्न श्रेणी के लोगों को सुख नहीं था। उनकी कमाई बहुत कम थी।

जहाँ तक व्यापार का प्रश्न था, भारतीय माल विदेशों में बेचे जाते थे। लाहौर से काबुल होते उत्तर-पश्चिम की ओर व्यापारी

जाया करते थे। पश्चिमी समुद्र के किनारे अनेक बन्दरगाह माल भेजा तथा लिया करते। देश में सड़कें तथा नदियों से माल का आना-जाना हुआ करता था। सोलहवीं सदी से योरप के व्यापारी आ गये और धीरे-धीरे उन्होंने सारा व्यापार अपने हाथों में कर लिया। अकाल कभी-कभी पड़ ही जाता था। पानी न बरसने से लगी खेती नष्ट हो जाती तथा लगान से भी छूट नहीं मिलती थी। १५५६ में ऐसा अकाल पड़ा था कि मनुष्य मनुष्य के भूखे हो गये। सारा देश वीरान हो गया और खेती करने के लिए किसान तक न बचे। शासक इस प्रकार की आकस्मिक आपत्तियों को मिटाने के लिए धन व्यय करते; पर बाद में ऐसी घटनाएँ कम हो गयीं।

आजकल की तरह अन्न तथा रूई मध्यकाल में भी पैदा होती थी। चीनी तथा रंग बनाने का काम भी होता था। कपड़ा बनाने का कारबार बड़े पैमाने पर था। गुजरात, खानदेश, उत्तरप्रदेश (जौनपुर, काशी) तथा बिहार (पटना) में वस्त्रों के कारखाने थे। बंगाल में रेशमी कपड़े तैयार किये जाते और काश्मीर में शाल तथा कालीन बनते थे। राजा की ओर से कारीगरों को प्रोत्साहन दिया जाता था। मध्यकालीन भारतीय व्यवसाय अपनी विशेषता के लिए विख्यात था। अठारहवीं सदी से यह अवस्था गिरने लगी। अशांतिमय शासन तथा कारीगरी के ह्रास के कारण देश धीरे-धीरे अवनति की ओर गिरता गया।

व्यापार के सिलसिले में सिक्कों के विषय में जान लेना जरूरी हो जाता है। भारत पर विजय प्राप्त करने के बाद मुसलमानों को हिन्दू-सिक्कों का अनुकरण करना पड़ा था। मुसलमान होते हुए भी मुहम्मद गोरी ने हिन्दू-देवताओं को सिक्कों पर स्थान दिया था। बाद में सिक्कों पर से सब प्रकार की आकृति हटा

दी गयी। मुसलमान मूर्त्तिपूजक न थे; इसलिए शासकों ने मूर्त्तियों के स्थान पर लेख खुदवाये। सर्वप्रथम अमीर का नाम रक्खा गया; परन्तु अल्तमश ने भारतीय चिह्नों को हटाकर कलमा अंकित कराया था। सुलतानों ने नयी शैली तथा नयी तौल (१७० ग्रेन) ग्रहण की। उस समय के बाद दोनों ओर लेख खोदे गये। सिक्कों पर टकसाल-नगर का नाम अंकित किया गया था। इस्लाम-मत के प्रभाव के कारण ही कलमा स्थायी चीज बन गया। आरम्भ में मुसलमान चाँदी को टंक कहते थे। ताम्बे के पैसे दाम या जितल कहे गये। मुगल-शासन-काल में देश की आर्थिक दशा सुधरी। हुमायूँ तक चाँदी के सिक्के को दिरहम कहा जाता था; पर शेरशाह ने शुद्ध चाँदी के सिक्के चलाये, जिसे रुपया का नाम दिया गया। सोने के सिक्के मुहर कहलाये। मुगल-काल में मुहर तथा रुपया ज्यों-के-त्यों बने रहे। पर कम्पनी के राज्य में सोने के सिक्के अशर्फी के नाम से विख्यात हुए। इन बड़े सिक्कों के अतिरिक्त व्यापार की सुविधा के लिए छोटे मूल्य के भी सिक्के तैयार किये जाते थे। उनमें अठन्नी, चवन्नी, दुअन्नी तथा इकन्नी की तरह छोटी टंकी बनती रही। कहने का तात्पर्य यह है कि शेरशाह के समय में सिक्कों में बहुत परिवर्तन हुआ। धातु तथा तोल भी निश्चित हो गयी। उसी को मुगल-सम्राटों ने माना और कुछ नये ढंग की मुहरें तैयार करायीं। कम्पनी ने चाँदी के सिक्के की तोल (१८० ग्रेन) तथा नाम (रुपया) अपनाया जो आज भी प्रचलित है।

मुसलमानों से पहले भारतवर्ष की ललितकला चरम सीमा को पहुँच गयी थी। सुन्दर विशाल मंदिरों की शिल्पकला देखतेबनती थी। मूर्तियाँ बनाने का ढंग भी अत्यन्त सुन्दर था। यों तो सर्वत्र देवताओं की प्रतिमाएँ बनती रहीं; पर बारहवीं सदी के आस-

पास पाल-शैली की मूर्त्तियों के तैयार होने का विवरण मिलता है। भारत में प्रवेश करते ही कर्कशता तथा धर्मान्धता के कारण मुसलमान-विजेताओं ने बहुत-से मंदिरों तथा मूर्तियों को ध्वंस कर दिया। शांत वातावरण हो जाने पर उन लोगों ने अपनी निजी शैली से कार्य आरम्भ किया, जो प्रचलित भारतीय शैली से भिन्न थी। परन्तु एक दूसरे की कला से प्रभावित होकर एक मिश्रित शैली काम में लायी गयी। वास्तुकला में दोनों शैलियों का सम्मिश्रण बड़ा ही रोचक है। भारतीय शिल्पी निर्माण-कार्य में लगाये गये। उस कला को इस्लामी शैली कहा जाता है। यह तो सही है कि भारतीय प्रभाव से वे बच न सके; पर उसमें अरब, ईरानी तथा तुर्क लोगों ने विभिन्न स्थानों से कला के विचार लेकर कार्य किया था; अतएव इस्लामी शैली कोई स्वतंत्र शैली नहीं कही जा सकती। मुगल-काल कला का स्वर्णयुग था। उसमें मुसलमान तथा हिन्दू-शैलियों का मिश्रण ही दिखलाई पड़ता है।

भारतीय इतिहास में औरंगजेब के सिवा प्रायः सभी मुगल-सम्राट् बड़े भारी निर्माता कहे जाते हैं। पहले के कुतुबमीनार, अटाला मस्जिद, तथा कई मकबरे पहले की मिश्रित कला के द्योतक तो हैं ही, लेकिन मुगल-काल की जुमा मस्जिद, ताजमहल, दीवाने-आम और दीवाने-खास, आगरा तथा दिल्ली के किले, हुमायूँ का मकबरा आदि इमारतें संसार में अद्वितीय हैं। मुसलमान मूर्त्तिपूजक नहीं थे, इसलिए मध्यकाल में प्रतिमाएँ न बनीं। उस कला को मस्जिदों तथा महलों की दीवारों की कारीगरी तथा सूक्ष्म लेखन-कला से व्यक्त किया गया।

चित्रकला में भी यह युग किसी से पीछे न रहा। मध्ययुग के आरम्भ में तालपत्रों पर लिखित जैन-ग्रंथों के उदाहरण चित्रित करने की परिपाटी चल निकली। जैन-कल्पसूत्र तथा

वसंत-विलास नामक पुस्तकों के चित्रित उदाहरण पाये गये हैं। परन्तु सोलहवीं सदी से कागजों पर चित्र तैयार किये जाने लगे, जिनपर सुनहली स्याही का प्रयोग मिलता है। ऐसे चित्र राजस्थानी शैली के नाम से विख्यात हुए। विषय की चर्चा के कारण राजस्थानी चित्रों में रागमाला दिखलाई गयी है। बुंदेलखण्डी चित्रशैली बाद में विकसित हुई। उसमें कविताओं को चित्रित करना, नायिका-भेद तथा रागमाला बनाना था। इस देशी चित्रकला के साथ मुगलों के संरक्षण में एक नयी शैली का आरम्भ हुआ, जिसे मुगल-कलम (शैली) कहते हैं। इनमें चित्रकार सांसारिक बातों के प्रदर्शन में बड़े ही दक्ष थे। इस समय कागज पर सुनहली स्याही का प्रयोग किया गया। इस तरह मध्ययुग में स्थापत्य या चित्रकला की अच्छी उन्नति हुई।

मध्ययुग संगीत के लिए प्रसिद्ध युग था। उसी काल में भारतीय संगीत का जन्म हुआ। अमीर खुसरो को इस नवीन परम्परा के सृजन का श्रेय दिया जाता है। इसने कई नये रागों की कल्पना की थी। जौनपुर के हुसेन शाह शर्की स्वयं बहुत बड़े गायक थे। उन्होंने कई रागों की कल्पना कर दूसरी परिपाटी के ख्याल चलाये। खिलजी दरबार के गोपाल गायक तथा बैजू बावरा (सोलहवीं सदी) का नाम संगीत के आचार्यों में लिया जाता है। ग्वालियर के राजा ने ध्रुपद का परिष्कार कर प्रचार किया। वह दरबार संगीतज्ञों के लिए उस समय से आज तक प्रसिद्ध है। तानसेन भी रीवाँ-दरबार से अकबर के पास उपहारस्वरूप भेजे गये थे। इनके अतिरिक्त भगवान के मध्ययुगीन भक्तों ने काव्य में संगीत का पुट देकर इस कला को प्रोत्साहित किया था।

भाषा का विकास

प्राचीन साहित्य के अध्याय में यह कहा जा चुका है कि गुप्त-युग के बाद काव्य संस्कृत में ही लिखे गये, जो राजभाषा भी घोषित कर दी गयी थी। पूर्व-मध्यकाल से मध्ययुग के अंत तक कट्टर हिन्दू इसी देववाणी संस्कृत का प्रयोग करते रहे। वैष्णव-आंदोलन के प्रवर्तक तथा सगुण-उपासना के समर्थक आचार्यों ने संस्कृत को ही अपनाया। शंकर और रामानुज ने संस्कृत के माध्यम द्वारा ही ज्ञान तथा भक्ति का प्रचार किया था। रामानुज के बाद भी माधवाचार्य कुल्लूक तथा रघुनन्दन ने श्रुति, स्मृति पर संस्कृत में टीकाएँ अथवा निबंध लिखकर वैदिक धर्म का प्रचार किया। सगुण भगवान के उपासक संस्कृत में आचार्यों का भाषण या विवेचन पढ़ते तथा सुनते रहे, परन्तु इससे साधारण जनता तक उनकी बातें पहुँच न सकीं।

बुद्ध और महावीर ने पहले ही यह समझ लिया था कि यदि अपने उपदेशों को जनता के निकट अधिकाधिक पहुँचाना है, तो उनकी भाषा अपनानी ही होगी। इसीलिए उन्होंने संस्कृत छोड़, तत्कालीन जन-भाषा पाली की शरण ली। व्याकरण के कठिन नियमों में बँध जाने और रूढ़िगत हो जाने के कारण संस्कृत जन-भाषा से हटकर थोड़े से मान्य व्यक्तियों की भाषा हो गयी और उसका स्थान धीरे-धीरे अन्य भाषाओं ने ग्रहण कर लिया। पाली, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाएँ इसी तरह विकसित हुईं।

धार्मिक क्षेत्र में जो साधु-संत निर्गुण ब्रह्म की उपासना के पक्षपाती होकर आये, उन्होंने जनसाधारण की भाषा को ही ग्रहण किया। उस समय भिन्न-भिन्न प्रांतों में अलग-अलग संतों ने नाम-कीर्त्तन आरम्भ कर दिया। चैतन्य ने बँगला में, नामदेव ने मराठी में, नानक ने पंजाबी में तथा कबीर ने हिन्दी में भगवान के गुण गाये। इस तरह हिन्दी-भाषा की उत्पत्ति प्रधानतः संतों के वाणी द्वारा हुई। कुछ विद्वानों का विचार है कि योगधारा के प्रवर्तक चौरासी सिद्धों ने हिन्दी आरम्भ की। जो भी हो, संतों ने निर्गुण ब्रह्म-गुणगान के निमित्त जिस भाषा का प्रयोग किया था, वह हिन्दी ही थी।

विक्रम की आठवीं, नवीं या दसवीं सदी में अपभ्रंश की जो पुस्तकें लिखी गयी थीं, उनमें हिन्दी के प्राथमिक स्वरूप की झलक दिखलाई पड़ती है। कुछ पहले के लोग अपभ्रंश बोलते थे; अतएव दूसरी बोलचाल की भाषा हिन्दी ही थी, जिसे उत्तर भारत के संतों ने अपनाया। बारहवीं सदी के बाद जब तुर्की सुलतान भारत में जम गये तो उन्होंने फारसी का प्रचलन आरम्भ किया। हिन्दू भी उसे सीखने लगे। हिन्दू-मुसलमानों के परस्पर प्रेम-भाव से मुसलमान भी इस ओर झुके और हिन्दी पढ़ने लगे। कुछ कविताएँ भी लिखीं। सबसे पहले खुसरो ने कलम उठायी थी। वह फारसी, हिन्दी तथा मिश्रित भाषा में कविताएँ भी लिखता रहा। भाषा-विकास की दृष्टि से खुसरो की पहेलियाँ अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। मुसलमान-शासकों को प्रजा की भाषा हिन्दी से परिचित कराने के लिए खालीकबारी नामक पद्यात्मक कोष की रचना की, जिसमें फारसी-शब्दों के हिन्दी अर्थ बतलाये गये हैं।

जैसा कि ऊपर कहा गया है कि वज्रयान के प्रचारक सिद्धों ने भी कुछ कविताएँ लिखी थीं, जिसे महापंडित राहुल सांकृत्यायन हिंदी का पूर्व रूप मानते हैं। यदि हिंदी के प्रयोग की बात देखी जाय

तो प्रकट होता है कि योग (हठयोग)-सम्प्रदाय के आदि गुरु मत्स्येन्द्रनाथ के शिष्य गोरखनाथ ने हिन्दी के द्वारा ही योगमार्ग का प्रसार किया था। गोरखनाथ अपने ढंग के एक ही कवि हुए। उनके साथ हिन्दी की विशेष धारा का जन्म हुआ, जो हिन्दी साहित्य में सदियों तक चलता रहा। हिन्दी-भाषा का पूर्ण विकास हुआ मध्ययुग में, जब भक्तिकालीन आचार्य तथा संतों ने साहित्यिक भांडार भरा। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, हिन्दू तथा मुसलमानों में समन्वय पैदा करना उस समय अत्यन्त आवश्यक था। रामानंद के निर्गुण ब्रह्म की उपासना ने यह काम बहुत हद तक पूरा किया। उनके तथा अन्य संतों के आंदोलन का प्रभाव हिन्दी-साहित्य पर अच्छी तरह पड़ा। इस निर्गुण उपासना के प्रधान संत कबीर थे, जिनकी प्रेरणा से हिन्दी में ज्ञानाश्रयी भक्त-कवियों की एक शाखा चल पड़ी।

कबीरदास का जन्म पंद्रहवीं शताब्दी के आरम्भ में हुआ था। कहा जाता है कि जन्म से ये ब्राह्मण थे; पर इनका पालन-पोषण जुलाहा परिवार में हुआ था। बाल्यकाल मगहर में बीता, पर पीछे काशी में रहने लगे थे। रामानंद को इन्होंने अपना गुरु बनाया। उनकी उक्तियाँ रहस्यपूर्ण हैं। इनके बाद दादूदयाल और मलूकदास ने उस परम्परा को निबाहा। इन सन्त-कवियों में विद्वान् सुन्दरदास हुए हैं। इनकी भाषा शुद्ध काव्यमय है। पर कबीर की भाँति वे प्रतिभा-संपन्न नहीं थे। इसलिए उनका प्रभाव विशेष न पड़ सका।

इन सन्त-कवियों के सम्प्रदाय से जो भक्ति का रूप विकसित हुआ उससे लोकरंजन न हो सका। निर्गुण ब्रह्म निराकार तथा ज्ञानमय होने के कारण सर्वसाधारण के लिए आकर्षण का विषय न बना। इन्हीं सन्त-कवियों के समय में हिन्दी में सूफी-कवियों की एक परंपरा चली, जिसमें अधिकतर मुसलमान सन्त-कवि हुए।

सूफी उस ब्रह्म के उपासक थे,जो निर्गुण तो हैं; पर अनंत प्रेम का भांडार हैं। प्रेमपंथी सूफी-कवियों की भाषा मँजी थी, कबीर की तरह अटपटी नहीं थी। इन कवियों में जायसी सबसे प्रसिद्ध हैं, जिनकी रचना पद्मावत हिन्दी-साहित्य का एक रत्न है। पद्मावत में कवि जायसी ने चित्तौड़ के राजा रत्नसेन तथा लंका की राज-कन्या पद्मावती की कथा कही है; पर इस बहाने ईश्वरीय प्रेम की अभिव्यक्ति की है। इस्लाम-मत में खुदा निराकार बना रहा; लेकिन इन्होंने एक नये मत का सृजन किया था। इन मुसलमान-सूफी-कवियों की देखा-देखी हिन्दू-कवियों ने भी उपाख्यान-काव्यों की रचना की। इस प्रकार हिन्दी की उत्पत्ति तथा विकास में इन ज्ञानाश्रयी सन्तों और सूफी-कवियों का बहुत बड़ा हाथ रहा।

इन सन्तों तथा फकीरों ने हिन्दू-समाज से शूद्र-जाति को ऊँचा उठाया और हिन्दू-मुस्लमानों में प्रेम पैदा किया था। उसी युग में प्राचीन भक्ति-परम्परा का आश्रय लेकर (रामानुज का भक्ति-मार्ग) कृष्ण तथा रामभक्ति का विकास किया गया। वल्लभाचार्य कृष्णभक्ति के प्रवर्तक थे और रामानन्द के उपास्य देव। वल्लभ के पुत्र गोसाईं विट्ठलनाथ थे, जिन्होंने अष्टछाप की स्थापना की। ये लोग हिन्दी-साहित्य में अष्टछाप के कवि कहलाते हैं, जिन्होंने कृष्णभक्ति से जनता का मनोरंजन किया था। उन लोगों ने कृष्ण के बाल-स्वरूप पर विशेष जोर दिया था। अष्टछाप के कवियों में सूरदास सर्वप्रधान माने जाते हैं। रामोपासना में रामानन्द की शिष्य-परम्परा में तुलसीदास हुए, जिनके समय में हिन्दी-कविता उन्नति की चरम सीमा को पहुँच चुकी थी। गोस्वामीजी के राम के दर्शन हमें रामचरितमानस में मिलते हैं। उनकी विनयपत्रिका भी उसी प्रकार लोकप्रिय हुई।

तुलसीदास के समकालीन कृष्ण-भक्त कवियों में निवार्काचार्य

का अधिक प्रभाव पड़ा। उनलोगों ने राधाकृष्ण की भक्ति प्रसारित की, जिसमें राधा शक्ति के रूप में प्रदर्शित की गयी है। प्रसिद्ध भक्तकवि विद्यापति ने राधा का स्वरूप निवार्क-सम्प्रदाय से लिया था। मीरावाई भी हिन्दी की प्रसिद्ध कवयित्री हो गयी हैं। उनके पद बड़े ही सरस और सरल हैं। कृष्ण के परमभक्त तथा अष्टछाप के प्रधान कवि सूरदास के विषय में कहा जा चुका है। सूरसागर उनका प्रधान ग्रंथ है, जिसमें बालकृष्ण के सम्बन्ध में ही पद लिखे गये हैं। इस परम्परा में नन्ददास, कृष्णदास, गोविन्दस्वामी, हितहरिवंश आदि का नाम लिया जा सकता है। नन्ददास सूरदास के समकालीन थे और भागवत की कथा लेकर काव्य की रचना की थी। कृष्ण-काव्य का यह अभ्युत्थान-काल था। कृष्ण-भक्ति से मुसलमान भी प्रभावित हुए। सरस पदों के रचयिता सच्चे प्रेममग्न कवि रसखान का नाम नहीं भुलाया जा सकता। कृष्ण-भक्त मुसलमान-कवियों में उनका स्थान बहुत ऊँचा है। इसी प्रकार कृष्ण-भक्त मुसलमान-कवियों में रहीम का नाम लिया जा सकता है। ये सुन्दर मार्मिक दोहे लिखा करते रहे। इस तरह अकबर के शासन-काल में राम-भक्त तथा कृष्ण-भक्त कवियों की रचनाओं से साहित्य का भाण्डार तेजी से भर रहा था।

भक्तिकाल को हिन्दी-साहित्य का स्वर्णयुग कहते हैं। इसके फलस्वरूप भारतीय समाज नयी आशा तथा उल्लास से संचारित हो गया और निराशा की भावना जाती रही। सन्तों में हिन्दू-मुसलमान का भेद नहीं था; इसलिए उन्होंने बिना भेद-भाव के हिन्दी-साहित्य की वृद्धि की और ईश्वर-भक्ति से भारत को आप्लावित कर दिया।

इसी तरह रीतिकाल के कवियों का हिंदी में पृथक् स्थान है। उन लोगों ने आदर्श मार्ग को छोड़कर गृहस्थ-जीवन के सुख-सौंदर्य

आदि पर अपनी दृष्टि डाली। स्थायी साहित्य में रीतिकाल के सौंदर्य-उपासक तथा प्रेमी कवियों का स्थान अमर है।

केशवदास रीतिकाव्य के आदि आचार्य माने जाते हैं। इनकी रचना 'रामचन्द्रिका' में राम इष्टदेव हैं। रसिकप्रिया नामक ग्रंथ में कृष्ण का वर्णन है। इनके बाद भूषण और मतिराम के नाम लिए जाते हैं। भूषण शिवाजी के दरबार-कवि थे और उन्होंने छत्रपति की वीरता का वर्णन किया है। ये शिवाजी के साथ युद्ध-क्षेत्र में भी जाया करते थे। शिवाबावनी तथा शिवराजभूषण इनकी प्रमुख रचनाएँ हैं। मतिराम तो हिन्दी के सच्चे रससिद्ध कवियों में से हैं। ये हिन्दी के नवरत्नों में गिने जाते हैं। इनकी रचना रसराज विशेष प्रसिद्ध है। प्रसिद्धि की दृष्टि से बिहारी रीति-कालीन कवियों में अन्यतम हैं। सौंदर्य तथा प्रेम का सुन्दर चित्र बिहारी ने खींचा है। देव, पद्माकर तथा घनानन्द उसी मार्ग के अनुगामी थे। देव के लिखे २६ ग्रंथों का पता चलता है। पद्माकर अंतिम प्रसिद्ध कवि हैं। इनकी शृंगार-रस की कविताएँ अत्यन्त प्रसिद्ध हुईं। इस काल में संस्कृत का बहुत अनुकरण किया गया। उससे साहित्य के अंग की उन्नति न हो सकी। पद्माकर के बाद कविता का प्रवाह क्षीण हो गया और गति प्रायः मन्द पड़ गयी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि १८वीं सदी तक हिन्दी के विकास में दोनों जातियों के कवियों ने बराबर सहयोग दिया। इसका एक कारण यह भी था कि हिन्दी भाषी जनता की संख्या अधिक थी और हिन्दी का आश्रय लिये बिना प्रजा में कोई बात फैलायी न जा सकती थी।

किंतु, यह भी सत्य है कि राज्याश्रय में पलनेवाली भाषा फारसी से मुँह मोड़ा न जा सकता था। हिंदी में फारसी शब्दों का प्रवेश

होने लगा। सबसे पहले अमीर खुसरो ने खालीकवारी लिखकर फारसी और हिन्दी का मिश्रित ढंग चलाया। सतरहवीं सदी में फारसी-मिश्रित हिन्दी दिल्ली के समीप लोग बोलते थे, जिसे पीछे 'उर्दू' कहा गया। इस तरह उर्दू की उत्पत्ति खड़ी बोली के साथ मिश्रित फारसी शब्दों से हुई, जो सैनिक पड़ावों और सुल्तानों के निवास-स्थानों की भाषा थी। उसकी लिपि फारसी की थी। बारहवीं से सतरहवीं सदी तक यह व्यावहारिक भाषा ज्यों-की-त्यों रही। विद्वानों ने इसे साहित्य-रचना के लिए नहीं अपनाया। केवल हिन्दी-साहित्य में फारसी शब्दों का प्रचार बढ़ रहा था।

उर्दू-साहित्य का आरम्भ दक्षिण के गोलकुण्डा तथा बीजापुर के दरबारों में हुआ। वहाँ के सुल्तान केवल कवियों के आश्रय-दाता ही नहीं थे, बल्कि स्वयं कवि भी थे। वहाँ की कविता में फारसी, अरबी, तुर्की तथा दक्षिणी मुहावरे मिले हुए थे और उन्होंने हिन्दी-उपमाओं को भी कविता में स्थान दिया। गोलकुण्डा के वजीर के पुत्र को पढ़ानेवाले शुजाउद्दीन नूरी उर्दू के पहले कवि के नाम से विख्यात हैं। उसी रियासत में इब्न निशाती ने उर्दू में कविताएँ लिखी थीं। गोलकुण्डा में कई छोटे-छोटे शायर हुए। बीजापुर का राजदरबार भी साहित्य की उन्नति में उससे घटकर न था। आदिलशाह स्वयं हिंदी में गाना लिखता था; लेकिन उसके दरबार में मीर संजर तथा मलिक भी फारसी के प्रसिद्ध कवि रहते थे। अली आदिल सुल्तान के दरबार में (१६७२ ई०) मुहम्मद नसरत नामक प्रसिद्ध कवि था। इसने 'अलीनामा' नाम की एक बड़ी पुस्तक मसनवी राजा की प्रशंसा में दक्षिणी उर्दू में लिखी। सतरहवीं सदी में गुजरात में वली तथा सिराज नामक दो कवि हुए, जो एक ही समय अहमदाबाद में रहा करते थे। उन दिनों दक्षिण में औरंगजेब युद्ध कर रहा था। मुगल-सम्राट् ने उन

राज्यों को नष्ट कर दिया, जिससे वहाँ का साहित्य-क्षेत्र भी नष्ट हो गया। गुजरात के इन दोनों कवियों ने साहित्य को वह रूप दिया, जो दो सौ वर्षों तक बदल न सका। १७०० के आसपास वलीउल्ला (वली) दिल्ली गये और वहीं सूफी-धर्म की दीक्षा ली। वली में कट्टरपन नहीं था। इनकी भाषा में आडम्बर का नाम नहीं है। सिराज ने एक दीवान लिखा था।

बीजापुर तथा गोलकुण्डा के नष्ट हो जाने पर साहित्य-केन्द्र दिल्ली चला गया। वहाँ पहुँचकर दक्खिनी भाषा का रूप बदल गया। कविताओं के विचार तथा कलेवर भी बदल गये। हिन्दी शब्दों, मुहावरों के बदले फारसी-अरबी का प्रयोग आरम्भ हो गया। इस समय उस्तादों ने उर्दू-भाषा को खूब सँवारा तथा फारसी विचार तथा मुहावरों को अच्छी तरह भरा। सूफी साधुओं का दौरदौरा था। उर्दू ने उसी सूफियाने रंग की नकल की; पर वह नकल अश्लील हो गयी। अठारहवीं सदी के प्रसिद्ध उर्दू-कवि 'दर्द' थे। इनका पूरा नाम मीरमियाँ साहब था; इसलिए मीरदर्द भी कहे जाते थे। अहमदशाह दुर्रानी तथा मराठों की लूट-मार के समय भी यह दिल्ली में डटे रहे, जब कि दूसरे कवि लखनऊ चले गये। मीरदर्द का स्थान उर्दू-साहित्य में बहुत प्रधान रहा। उन्होंने सूफी विचार तथा इश्क हकीकी का प्रचार किया। इसलिए लिखा भी है—

क्या फर्क दागो गुल में अगर गुल में बू न हो
किस काम का वह दिल है कि जिसमें तू न हो।

उर्दू-साहित्य इंशा अल्लाह खाँ की अनेक कृतियों से भरा पड़ा है। इनमें उर्दू का दीवान, उर्दू तथा फारसी के कसीदे, फारसी का छोटा दीवान, शिकारनामा आदि प्रसिद्ध हैं। इनके पिता दिल्ली से मुर्शिदाबाद चले गये थे; पर इंशा दिल्ली वापस आ गये। वहाँ

वह अधिक दिन ठहर न सके और लखनऊ चले गये। उर्दू के अन्य प्रसिद्ध शायरों में 'जोक' का नाम भी आता है। दिल्ली के अंतिम दिनों में जोक गजल तथा कसीदा लिखते रहे। इनकी कविता में भाषा की प्रधानता थी और कल्पना-शक्ति गौण थी। इनके समकालीन कवियों में केवल एक 'गालिब' थे, जिनसे इनकी तुलना की जा सकती है। जोक के अनेक शिष्यों में दाग, जहीर तथा अनवर प्रसिद्ध हैं।

उर्दू के कवियों में महाकवि गालिब अग्रणी थे। १८०६ ई० में गालिब नौ वर्ष के थे, जब इनके पिता मर गये। इनके पूर्वजों की बहुत-सी सम्पत्ति नष्ट हो गयी, जिसके कारण भारत-सरकार से इन्हें पेन्शन मिलती रही। पहले ये फारसी में कविता करते थे; पर बाद में उर्दू की ओर झुके। उर्दू में इनका स्थान बहुत ऊँचा है। गालिब के मुख्य शिष्य हाली थे। ये वर्तमान उर्दू-साहित्य के प्रधान कवि माने गये हैं।

मुगल-साम्राज्य के नष्ट हो जाने पर साहित्य-केन्द्र लखनऊ में आ गया। वहाँ अनेक कवि नवाब के दरबार में रहकर कविता करते रहे। हैदराबाद भी उर्दू कवियों का केन्द्र था। इन जगहों में उर्दू-साहित्य की श्रीवृद्धि होती रही।

नया प्रकाश

अठारहवीं सदी में शिवाजी के मरने के बाद, दक्षिण भारत में कोई व्यक्ति हिन्दू-संस्कृति का पोषक न रहा। जाति के कट्टरपन ने हिन्दुओं की रक्षा की। उसके बाद के युग में लोगों ने विभिन्न प्रकार से सोचना आरम्भ किया और विचार की क्रान्ति ने समाज तथा धर्म में परिवर्त्तन ला दिया। उस विचार में प्राचीनता के प्रति श्रद्धा और नवीनता को ग्रहण करने की सामर्थ्य थी। बुद्धि-विकास के कारण अन्धविश्वास तथा तंत्र-मंत्र की बात जाती रही। समाज में सुधार की लहर दौड़ने लगी। लोगों में जागृति पैदा हो गयी और उदासीनता दूर हो गयी। प्रत्येक विषय को वैज्ञानिक ढंग से देखा जाने लगा और शास्त्रों को नये रूप से जाँचा गया। नये आचार और धर्म ने पुराने समाज में नवीनता पैदा की। यह कहानी विचित्र है कि किन कारणों से नये प्रकाश की ओर सब देखने लगे। विद्वानों का कहना है कि अँगरेजी की नयी शिक्षा ने यहाँ के लोगों में नये विचार पैदा किये। अँगरेजी पढ़ने से योरप की बातों से सभी अवगत हो गये और वहाँ की स्वतंत्रता, देश-प्रेम तथा कार्य-शैली को जानकर उनसे उन्होंने लाभ उठाया। जिस तरह मुसलमानों के सम्पर्क में आकर संस्कृति की रक्षा करने के लिए हिन्दुओं में कट्टरपन आ गया था, उसी प्रकार अँगरेजी संसर्ग से उसकी रक्षा के निमित्त विचार लाने पड़े।

मुगलवंश की अवनति के समय उत्तरी भारत की विचित्र अवस्था थी। नादिरशाह तथा अहमदशाह दुर्रानी के आक्रमणों

से हाहाकार मचा था। जिनका सम्बन्ध राजदरबार से था, वे सुखी थे ; अन्यथा सर्वत्र अव्यवस्था फैली हुई थी। अँगरेजी राज्य की नींव पहले ही पड़ गयी थी; पर सुशासन न होने के कारण प्रजा बहुत दुखी थी। देश का सारा व्यापार योरप की कम्पनियों के हाथ में चला जा रहा था और अपना व्यापार बढ़ाने के पीछे भारतीय कारीगरी को उत्साहित करने की ओर उनका तनिक भी ध्यान न था। अँगरेजों ने शिक्षा के क्रम को बदलकर नये ढंग से अँगरेजी का प्रचार करना आरम्भ कर दिया था। इस कारण हिन्दू या मुसलमान, दोनों जातियों के कट्टरपंथियों ने उससे पृथक् रहना ही उचित समझा। लोगों की आर्थिक अवस्था गिरती जा रही थी। अँगरेजी कम्पनी ने मध्यमवर्ग के लोगों को नौकरियाँ दीं—बराबर का व्यवहार किया; इसलिए उसपर सब झुकने लगे। अँगरेजी पढ़ने से समाज में परिवर्तन आने लगे। समाज की अनगिनत उपजातियाँ तथा ऊँच-नीच के व्यवहार में ढीलापन आ गया। अतएव समाज में सुधार की आवश्यकता मालूम होने लगी। कहना व्यर्थ है कि धार्मिक रूढ़ियों के विरुद्ध विद्वेष-भावना को रोकने के लिए ही ऐसा करना अच्छा समझा गया।

नये प्रकाश को प्रसारित करने का श्रेय बंगाल के नेता राममोहन राय को है। समय के साथ चलने की आवाज उन्होंने उठायी थी। एक ईश्वर की पूजा श्रेयस्कर है, यही उनका कथन था। उन्होंने प्राचीन शास्त्रों का आधार लेकर यह सिद्ध करना चाहा कि उनके विचार हिन्दू-धर्म तथा शास्त्र के अनुकूल थे और हिन्दुओं के जो तत्कालीन ढंग थे, वे सब अन्धविश्वास के कारण पैदा हुए थे। राममोहन राय के आंदोलन से बंगाल के हिन्दू-समाज में उथल-पुथल मच गया। नये तथा

पुराने लोगों में वाद-विवाद आरंभ हो गया। उन्होंने अपने सिद्धांत की पुष्टि के लिए धर्म-ग्रन्थों का बंगला संस्करण निकाला। हिन्दू-समाज की बुराइयों और कट्टरपन की घोर निन्दा की। शिक्षा के अभाव से समाज में अन्य बुरी प्रथाओं का समावेश हो गया था। परदा-प्रथा के कारण स्त्रियों में शिक्षा न रही। ब्रह्मसमाज की स्थापना कर राममोहन राय ने सुधार की योजना उपस्थित की। ब्रह्मसमाज ने ईसाई मत के प्रसार में छिपे तौर से बाधा उपस्थित की। हिन्दू-समाज में परदा-प्रथा के हटाने, अन्तर्जातीय विवाह करने तथा स्त्रियों को उच्च शिक्षा द्वारा समाज को गिरने से ब्रह्मसमाज ने बचा लिया।

उस समय देश में कई नयी घटनाएँ घटीं। अँगरेजी सरकार ने किसी प्रकार की खबर छापने की स्वतंत्रता नहीं दी थी। इस कारण कोई अखबार छप नहीं सकता था। ईसाई गाँव-गाँव में अँगरेजी शिक्षा का प्रचार कर अँग्रेजियत फैलाना चाहते थे। अँगरेजी शिक्षा के बहाने ईसाई योरप की सभ्यता लाने का प्रयत्न कर रहे थे। परन्तु नये आंदोलन के कारण अँगरेज सरकार को कुछ झुकना पड़ा। बंगाल की शिक्षा-समिति में पूर्वी विचारधारा और अँग्रेजियत-वालों में विभेद हो गया। भारतीयों के आँसू पोछने के लिए कलकत्ते में संस्कृत-कालेज खोला गया; पर उससे कुछ कार्य सिद्ध न हो पाया। समाज में गरीबी का बोलबाला था। ईस्ट-इण्डिया-कम्पनी में नौकरी पाने के लिए अँगरेजी की शिक्षा आवश्यक थी; इसलिए भारतीयता के हिमायतियों को भी अपने विचार से हटना पड़ा।

सरकार भारतवासियों के समाज तथा धर्म-सम्बन्धी मामलों से उदासीन रहती थी। जो लोग ईसाई हो जाते थे, वे पैत्रिक सम्पत्ति के अनधिकारी समझे जाते थे; परन्तु ईसाई-मतावलम्बी सरकार ने इसमें भी छेड़छाड़ नहीं की।

उन्नीसवीं सदी के शुरू में हिन्दुओं में कई गन्दे ढंग की पूजाएँ—विधियाँ तथा तांत्रिक रस्म प्रचलित थे। उस काल में सुधार-आंदोलन के फलस्वरूप कितने मान्य नियम बदल गये। चैतन्य का बंगाल की जनता पर बहुत प्रभाव था। उन्नीसवीं सदी के पिछले वर्षों में प्रेम तथा मानव-सेवा की परम्परा रामकृष्ण परमहंस में आयी। उन्हीं के नाम पर सेवा-संस्थाएँ खोली गयीं, जो रामकृष्ण-मिशन के नाम से विख्यात हैं। वे लोग पूरे धैर्य, सेवा के आदर्श तथा प्रेम से औषधालय तथा शिक्षा-सम्बन्धी संस्थाएँ चलाते हैं और सर्वत्र पीड़ित जनता की सेवा में लग जाते हैं। अँगरेजों के सम्पर्क से समाज में परिवर्त्तन तथा नये सुधार होते गये। यों तो श्री रामकृष्ण पुरानी हिन्दू-परम्परा के प्रतिनिधि थे; परन्तु नये भावों को लेकर आगे बढ़े थे। परमहंस के प्रधान शिष्य श्री विवेकानन्द ने रामकृष्ण की शिक्षा को इस प्रकार उपस्थित किया कि संसार की आँखें इसकी ओर खिंच गयीं। संसार में रामकृष्ण-मिशन तथा मठ की शाखाएँ सर्वत्र फैल गयीं।

महाराष्ट्र में ब्रह्मसमाज के ढंग पर पुरानी रूढ़ियों के विरोध में 'प्रार्थना-समाज' नाम की संस्था चलायी गयी। प्रार्थना-समाज के समर्थक अपने को हिन्दू-धर्म का अंग मानते थे। भारतीय संस्कृति उनके लिए पश्चिमी सभ्यता से श्रेयस्कर थी। महाराष्ट्र-संत तुकाराम, नामदेव और रामदास की तरह वे देवों के पुजारी थे तथा ईश्वर में आस्था रखते थे। वे अन्तर्जातीय विवाह, विधवा-विवाह तथा अछूतों की उन्नति के समर्थक थे। इसलिए पश्चिमी भारत में प्रार्थना-समाज ने अनेक सामाजिक सुधार जनता के सामने उपस्थित किये। महादेव गोविंद रानाडे इसके प्रबल समर्थक तथा अगुआ थे। उनका कहना था कि सामाजिक उन्नति में ही देश का कल्याण तथा राजनीतिक बन्धन से मुक्ति है।

उस काल के समाज-सुधारकों में स्वामी दयानन्द सरस्वती का नाम बहुत विख्यात है। उन्नीसवीं सदी के उत्तर भाग में उन्होंने 'आर्य-समाज' की स्थापना की। यह संस्था कट्टरपन को मिटाकर समाज में एकता लाना चाहती थी, जिससे हिन्दू-समाज शक्तिशाली हो जाय। पिछले समाजों से इसमें यह विशेषता थी कि आर्य-समाज में पश्चिमी सभ्यता का प्रभाव लेशमात्र भी नहीं था। यह शुद्ध वैदिक रीति से समाज का संगठन कर प्राचीन हिन्दू-संस्कृति का समर्थक था। स्वामी दयानन्द सामाजिक सुधारों के अतिरिक्त ईसाई तथा मुसलमानों की शुद्धि के पक्ष में थे। आर्यसमाजी हिन्दुओं के करोड़ों देवताओं की पूजा के विरोधी थे। वैदिक यज्ञ के साथ एक ईश्वर की आराधना ही परम पूजा थी। आर्य-समाज ने नवयुवकों को अपनी ओर खींचा। स्वामीजी के कार्यों से ईसाई-मत को गहरा धक्का लगा। पादरियों के प्रचार के स्थानों पर आर्य-समाज का प्रचार किया गया। वेदों का अध्ययन तथा यज्ञ का कार्य शुरू किया गया। वैदिक समाज का लोगों को ज्ञान कराया गया तथा भारतीयता के महत्त्व को सभी ने सुना। स्वामीजी ने ही पहले-पहल राष्ट्र-भाषा हिन्दी के लिए आवाज उठायी। गुजराती होकर भी उन्होंने हिन्दी में सत्यार्थ प्रकाश नामक ग्रंथ लिखा था।

उन्नीसवीं सदी में भारतीय समाज को ऊँचा उठाने के लिए प्रयत्नशील संस्थाओं में थियोसोफिकल सोसाइटी का नाम भी लिया जा सकता है। स्वर्गीय एनीबेसेंट इसकी संस्थापिका थीं। उनका कथन था कि भारत का उत्थान उसी दशा में हो सकेगा, जब भारतवासी प्राचीन आदर्श-मार्ग पर चलें। उन पुरानी बातों का फिर से समाज में समावेश किया जाय, तभी जातीय प्रतिष्ठा तथा सम्मान वापस आ सकेगा। इस ध्येय की पूर्ति के लिए काशी में

सेन्ट्रल हिन्दू-कालेज की स्थापना की गयी, जो काशी विश्व-विद्यालय के रूप में आज भी खड़ा है।

हिन्दुओं के अतिरिक्त मुसलमान भी अँगरेजों से पृथक् रहते थे। उनमें अँगरेजी शिक्षा का अभाव रह गया और नयी रोशनी के पहुँचने की कोई आशा नहीं रही। सैयद अहमद खाँ ने अशिक्षा की इस बुराई को समझा और इसे दूर करने के लिए अलीगढ़ में ऐंग्लो ओरियंटल कालेज खोला गया, जो आगे चलकर अलीगढ़ विश्वविद्यालय के रूप में परिणत हो गया।

शिक्षा के अतिरिक्त साहित्य तथा कला की ओर भी लोगों का ध्यान था। विशेषकर गद्य-साहित्य के बारे में दो शब्द कहना आवश्यक हो जाता है। जहाँ तक हिन्दी-साहित्य की प्रगति का प्रश्न है, थोड़ी अवस्था में भी भारतेंदु हरिश्चन्द्र ने राष्ट्रीय विषयों को लेकर हिन्दी गद्य-पद्य में काफी लिखा। भारतेंदु को वर्तमान हिन्दी का प्रधान प्रवर्तक कहा जा सकता है, जिसका नया नाम खड़ी बोली पड़ा। उस खड़ी बोली को सँवारने का श्रेय श्री महावीरप्रसाद द्विवेदी को है। साहित्य की प्रगति में पत्र-पत्रिकाओं से भी काफी सहायता मिली। लोगों में हिन्दी के लिए अभिरुचि पैदा हुई और उसके फलस्वरूप हिन्दी में ग्रन्थ लिखे गये। कविता के साथ-साथ उपन्यास, कहानी तथा नाटक लिखने की ओर लोगों का ध्यान गया। हिंदी-गद्य का विकास वर्त्तमान युग की महत्त्वपूर्ण घटना है।

यही हाल उर्दू का भी है। यह कहा जा चुका है कि मध्ययुग के अंत में दिल्ली से उर्दू के कवि तथा लेखक लखनऊ चले आये थे और वहीं लखनऊ-नवाबों के दरबार में उनका अच्छा जमाव हो गया था। अँगरेजी राज्य कायम हो जाने पर अँगरेजों को राज्य-प्रबंध के लिए जनता से संपर्क स्थापित करना पड़ा। दोभापिये का काम खतम हो गया था; इसलिए भाषा के पढ़ने के लिए उद्योग शुरू

हुए। बोलचाल की भाषा में उर्दू को प्रोत्साहन मिला। इस तरह उर्दू में भी गद्य लिखा जाने लगा। सबसे पहले अनुवादित साहित्य आया; फिर मौलिक गद्य की बारी आयी। उर्दू के प्रसिद्ध गद्य-लेखकों में मिर्जा रज्जब अली का नाम प्रसिद्ध है, जिन्होंने फिसानाए अजायब' नाम का उपन्यास लिखा था।

सर सैयद अहमद खाँ ने इसकी उन्नति के लिए काफी प्रयत्न किया और स्वयं लिखा भी। उर्दू गद्य-लेखकों में आजमगढ़ के मौलाना शिबली का नाम भी गर्व के साथ लिया जा सकता है।

मौलाना अबुल कलाम आजाद का नाम न केवल उर्दू के गद्य-लेखकों में ऊँचा है; बल्कि भारत के साहित्यकारों में आपका स्थान अन्यतम है। कवियों में सर इकबाल प्रसिद्ध हैं। इस युग के अन्य प्रांतीय भाषाओं के साहित्यकारों में बँगला के श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर, मराठी में अन्ना साहब किर्लोस्कर और गुजराती में महात्मा गाँधी के नाम स्मरणीय रहेंगे।

आधुनिक काल में साहित्य की प्रगति के साथ कला भी आगे बढ़ती रही। मुगल-काल के बाद जहाँ-तहाँ चित्र बनते थे। उसका प्रधान केन्द्र कहीं एक जगह नहीं था। पटना में लोगों ने चित्रकला की ओर ध्यान देकर कुछ काम किया था, जिसे पटना-कलम के नाम से पुकारते हैं। गुजराती भी चित्र बनाने में पीछे न रहे। विशेषतया उसमें जैन तथा मध्यकालीन शैली का सम्मिश्रण पाया जाता है। बंगाल में अवनीन्द्रनाथ टैगोर ने नया स्कूल चलाया, जो उन्हीं के नाम से विख्यात है। इस बंगला-शैली में प्राचीन विचार-धारा में नवीनता का पुट देकर चित्र तैयार किये जा रहे हैं।

यद्यपि भारतीय समाज में पश्चिमी सभ्यता से घृणा पैदा हो रही थी; परन्तु उसके सम्पर्क में आने पर ही सुधार आरम्भ किया गया था। उस संस्कृति ने भारतीय जीवन के कई पहलुओं

में विद्रोह पैदा किया। राजनीति अछूती न रही। सामाजिक सुधार के बाद राजनीतिक सुधारों की माँग बढ़ी। १८५७ में अँगरेजों के विरुद्ध गदर हुआ, जो स्वतंत्रता की पहली लड़ाई थी। पर यह क्रांति इतनी जल्द कुचल दी गयी कि लोगों ने अँगरेजों से पृथक् रहना ही हितकर समझा। देश की जाग्रति रोकी न जा सकती थी, लोग स्वयं अपने अधिकार के लिए लड़ने लगे। शिक्षा का क्रम भी बढ़ता ही गया। विश्वविद्यालय खोले जाने लगे। काँग्रेस का जन्म हुआ और इस प्रकार फिर राष्ट्रीयता का बीज बोया गया। पहले काँग्रेस में सभी लोग सम्मिलित थे। पर धीरे-धीरे नरम विचार-वाले पृथक् हो गये। सरकार की आँखों में यह विरोधी संस्था थी। इसके सदस्य जेल-यातना सहने के लिए सदा तैयार रहते थे। १९१४ में गाँधीजी के भारतीय राजनीति में पदार्पण करने पर इसमें जान आ गयी। उन्हीं का कार्य था कि असहयोग-आंदोलन के फलस्वरूप आज हम स्वतंत्र हैं।

महात्मा गाँधी के राजनीतिक क्षेत्र में आने के कारण हरिजनों की ओर सबों की दृष्टि गयी। उनकी उन्नति तथा उत्थान में गाँधीजी का प्रधान हाथ रहा। जहाँ प्राचीन समाज में शूद्रों की चौथी श्रेणी थी, मध्यकाल में उनकी कई छोटी-छोटी जातियाँ हो गयी थीं, वह सब लुप्त होने के दिन निकट आने लगे। ऊँचे वर्ग के साथ मिलकर सामाजिक अवसरों पर उन लोगों ने काम किया। उनका नाम हरि-जन पड़ गया और अब पुराने नाम से कोई पुकारता तक नहीं है।

भारत भर में इस तरह का सुधार आवश्यक था। रूढ़ियों को मिटाकर समय के साथ आगे बढ़ने में ही संस्कृति का जीवन है। नये-नये विचार तथा नये कार्य ही हमारी संस्कृति को जीवित रख सकेंगे।

विश्व को हमारी देन

भारतीय संस्कृति की कहानी समाप्त करने से पहले एक प्रश्न का उत्तर देना आवश्यक हो जाता है—विश्व को हमारी देन क्या है ? साधारण व्यक्तियों को यह खटकने लगता है कि पश्चिमी जातियाँ इस वैज्ञानिक युग में हमसे क्या सीखेंगी। यद्यपि भौतिक क्षेत्र में उन्होंने अधिक उन्नति कर ली है; परन्तु जीवन के तत्त्व को समझने में वे अभी पीछे हैं। यह बार-बार दुहराया जा चुका है कि उस क्षेत्र में भारतवर्ष की प्रतिस्पर्द्धा करना सरल नहीं है। भारत में भौतिकवाद की स्थिति रही है, पर अध्यात्मवाद ही प्रधान था। इस प्रश्न को समझने के लिए विभिन्न विषयों पर विचार करना होगा।

भारतीय समाज एक आदर्श को लेकर चलता है। हमारे यहाँ के सम्मिलित कुटुम्ब तथा सम्मिलित सम्पत्ति की समता अन्यत्र नहीं मिलती। घर में वय तथा स्थान के कारण सभी सम्मानित किये जाते हैं। पुराने समय में अधिकतर पितृप्रधान परिवार का वर्णन मिलता है। जब तक पिता जीवित है, सारी व्यवस्था की जिम्मेदारी उसी के सिर पर रहती है। वह परिवार के लोगों से एक सदृश व्यवहार करता है। सभी बच्चे उसी के पुत्र हैं। लालन-पालन अथवा शिक्षा आदि कामों में उसकी बात ही अंतिम वाक्य हो जाती है। इतना ही नहीं, परिवार के पूरे धन (चल तथा अचल) का वही स्वामी समझा जाता है। दूसरे लोग पैसा एकत्र करके उसके पास

भेजते रहते हैं। इस प्रकार सम्मिलित परिवार में सुख और शांति थी।

स्त्रियाँ शिक्षिता थीं तथा कुल-मर्यादा के अनुकूल प्रतिष्ठा का निर्वाह करती रहीं। पुरुष भी प्रायः एक पत्नीव्रत का नियम पालन करते थे, पर बहुपत्नीव्रत की घटनाएँ कम न होती थीं। स्त्रियाँ सतीत्व की रक्षा के लिए सती या जौहर की शरण लेती रहीं। अन्य विषयों की तरह इन पुण्य कार्यों में भी पीछे बुराइयाँ घुस गयीं, जिस कारण इन्हें बन्द करना पड़ा। पर इनकी वास्तविकता में किसी को सन्देह नहीं हो सकता।

समाज में व्यक्ति का आचार कितना ऊँचा था, उसका दिग्दर्शन पिछले पृष्ठों में कराया गया है। साधारण जीवन तथा ऊँचे विचार का सभी अनुसरण करते रहे हैं। नित्यकर्म तथा देव-पूजा भी उसी आचरण का एक छोटा-सा अंग रही।

भारतवासी किसी भी मत के अनुयायी न होकर सबों के प्रति सहिष्णुता का बर्त्ताव करते रहे, ताकि सब फूलें तथा फलें। उनके मन में द्वेष की भावना न थी। अशोक के धर्म-लेख इसके प्रमाण हैं। वे जीवन में अर्थ, धर्म तथा काम के बाद मोक्ष की प्राप्ति में लग जाते थे। यही कारण है कि बुद्ध ने भी त्याग के सिद्धान्त पर जोर दिया था। ब्राह्मण तथा बौद्धों के जीवन का लक्ष्य मुक्ति ही था। पुराने समय में जितनी बाहरी जातियाँ भारत में आयीं, प्रायः सबों ने (मुसलमानों को छोड़कर) इस सिद्धान्त को मान लिया था। इस कारण वे सब यहाँ के समाज में घुलमिल गये। यहाँ के लोग पुनर्जन्म में विश्वास करते हैं, परलोक में सुख-प्राप्ति के लिए संसार में पवित्र जीवन ही एकमात्र साधन मानते हैं। संसार में सारे पूजा-पाठ, यज्ञ, तप तथा दान आदि स्वर्ग-प्राप्ति की कामना से ही किये जाते हैं। किसी देश के इतिहास में ऐसी बातें न मिलेंगी। इन विचारों को सुनकर कभी-कभी यह विचार उत्पन्न हो जाता है

कि भारतीय जीवन में विरक्ति की भावना निहित है। लेकिन गीता के पढ़नेवालों से यह बात छिपी नहीं है कि भगवान् कृष्ण ने गीता में कर्मवाद का प्रतिपादन किया है। संन्यास लेना ही आश्रमों का धर्म न था, पर संसार में रहकर कर्म करने की बात सर्वश्रेष्ठ मानी गयी है। गृहस्थाश्रम सभी आश्रमों में मुख्य माना जाता रहा। जनक गृहस्थाश्रम में रहकर अन्तिम लक्ष्य तक पहुँच चुके थे। उनके जीवन में एक समन्वय था।

भारतीय पुरुषार्थों में अर्थ की प्रधानता थी। धन से ही सब कार्य सम्पन्न हो सकते हैं। धर्म की ओर भी कुछ प्रवृत्ति हो जाती है। यद्यपि गरीब के घरों में ही भगवान् निवास करते हैं, पर लक्ष्मी वहाँ नहीं दिखाई पड़तीं। धनी-मानी व्यक्ति दान देकर तथा उस मार्ग पर चलकर मोक्ष की प्राप्ति कर सकता था। हमारे ऋषियों ने जीवन में अर्थ का महत्त्व देखकर धन के बराबर बँटवारे की योजना प्रकाशित कर दी थी। व्यापार एक सामूहिक संस्था द्वारा होता था, जिसके सभी सदस्य हो सकते थे। उसका नाम श्रेणी था। सूत्र-ग्रन्थों तथा स्मृतियों में उस व्यापारिक संस्था—श्रेणी—का नाम बार-बार उल्लिखित मिलता है। प्राचीन लोगों ने धन के बँटवारे का यही मार्ग निकाला था। इनमें आय तथा हानि सभी लोगों में बँट जाती थी। नारद-स्मृति में तो यहाँ तक वर्णन मिलता है कि जो सदस्य उस श्रेणी के नियम का उल्लंघन करता, वह दण्ड का भागी होता। यदि उसके कारण व्यापार में हानि हो जाय, तो उस व्यक्ति को अर्थदण्ड दिया जाता था। इस तरह पूँजीवाद को हमारे यहाँ प्रोत्साहन न मिल पाया। धन के समविभाग से आजकल की तरह प्राचीन समाज में गरीब और धनी का विभेद न था। यह तो सम्भव था ही कि किसी श्रेणी के सदस्यों को दूसरों से अधिक लाभ हो जाय, और फिर भेद

हो जाता था; पर साधन ऐसे थे कि कमी की पूर्ति किसी-न-किसी तरह हो जाया करती थी। यह कहना अनुचित होगा कि श्रेणियों ने पूँजीवाद का विरोध किया था; पर ऐसे नियम बने थे कि पूँजीवाद पनप न सका। उन श्रेणियों की इतनी प्रतिष्ठा थी कि उसके सदस्य सम्मानपूर्वक राजकार्य में सलाह देने के लिए बुलाये जाते थे। श्रेणियों ने अपनी उन्नति के लिए व्यावहारिक शिक्षा का निजी प्रबन्ध किया था। याज्ञवल्क्य ने इसपर काफी प्रकाश डाला है।

धार्मिक क्षेत्र में भारतवासी ऊँचे आदर्श से काम करते थे। आध्यात्मिक उन्नति उनके जीवन का ध्येय थी। उनके जीवन में सामूहिक पूजा तथा आराधना के विचार प्रस्फुटित हुए थे। बुद्ध ने मठों या विहारों में सामूहिक प्रार्थना के कार्य को श्रेयस्कर माना था। आज भी बौद्ध इसी मार्ग पर चलते हैं। सम्भवतः सामूहिक प्रार्थना के विचार उन्हीं के अनुकरण पर मुसलमानों ने इस्लाम में समाविष्ट किये। अस्तु, भारतीय धार्मिक विचारमें किसी अन्य मत के प्रति ईर्ष्या-द्वेष न थे। समभाव से व्यवहार करना ही आदर्श माना जाता था। अशोक ने कहा भी था कि दूसरे धर्म के प्रति समादर के भाव से व्यक्ति अपने धर्म की उन्नति करता है तथा द्वेष करने से अपने धर्म की निन्दा करता और उसको हानि पहुँचाता है। उनका कथन था कि सभी धर्म उन्नति करें, ताकि सब शान्ति से अपना काम कर सकें। धर्म के इन्हीं तत्त्वों को अशोक ने शिलाओं तथा स्तम्भों पर खुदवाया था। गुप्तकालीन राजा भी सहिष्णु थे और उनके शासन-काल में अन्य धर्मावलम्बी राज्य के ऊँचे पदों पर नियुक्त हुए थे। सबसे आश्चर्य तो यह है कि उस समय वैष्णव-धर्म के प्रचार होने पर भी बौद्ध प्रतिमाएँ अधिक संख्या में बनती रहीं। अस्तु, भारतीय संस्कृति की यह एक विशेषता रही है। मध्य-काल में दक्षिण भारत के विजयनगर के शासक मुसलमानों के प्रति

सहिष्णुता के भाव रखते और उनकी कुरान-शरीफ के प्रति आदर दिखलाते रहे। भारत में व्यक्तिगत पूजा की भावना बहुत पीछे आयी। सम्भव है कि उसके लिए एकान्त में पूजा की आवश्यकता मालूम पड़ी हो और उसी कारण व्यक्तिगत पूजा का प्रचार चलाया गया हो। इसकी गहराई में न जाकर यह कहना पर्याप्त होगा कि भारतीय संस्कृति की यह एक विशेपता थी। संत लोगों ने, कालांतर में कीर्त्तन की प्रधानता बतलायी। 'हरि को भजे सो हरि का होई', और जिसे तुलसीदासजी ने "गाइय सुनिय रामगुण" के रूप में लिखा है। इस परिवर्त्तन के कारण उस समय की सामाजिक तथा राजनीतिक परिस्थितियाँ थे। भारतीय समाज तथा धर्म में कट्टरपन आने के दूसरे कारण थे, जिसका आंशिक विवेचन किया जा चुका है।

राजनीतिक क्षेत्र में भी भारत की देन कुछ कम नहीं है। आज हम देखते हैं कि स्वतंत्र भारत का विधान पश्चिमी देशों की नकल पर तैयार किया गया है। पर प्रजातंत्र-प्रणाली भारत के लिए कोई नयी नहीं। योरप तथा अमेरिका ने उसे आगे बढ़ाकर नये रूप में उपस्थित किया है। किसी विषय में लगातार लगे रहने से उसमें की बारीकी निकल आती है। पश्चिम के देश सैकड़ों वर्षों से स्वतंत्र थे; इस कारण उनका कार्य भारत से बहुत आगे दिखलाई पड़ता है। इस वादविवाद में न जाकर हमें उस बात की ओर सबका ध्यान आकर्षित करना है, जिसे भारत ने संसार के सामने रखा था। भारतीय शासन में राजतन्त्र तथा प्रजातन्त्र-प्रणालियाँ काम कर रही थीं। जनता शक्तिशाली थी। ब्राह्मण-ग्रन्थों में राजा के चुने जाने का वर्णन मिलता है। ईसा-पूर्व छठी सदी से इस प्रकार के शासन-कार्य चल रहे थे। राजतंत्र भी आदर्श था। राजा प्रजाहित में रहता था और मंत्रिमंडल की सहायता से सभी प्रबंध करता रहा। पूरा देश प्रांतों

में बँटा था, जहाँ प्रांतपति शासन करते थे। विषय (जिले) के प्रबन्ध के लिए भी एक समिति रहती थी, जो विषयपति को सलाह दिया करती थी। विषय ग्रामों में बँटे थे। वही ग्राम-व्यवस्था छोटे-से इकाई के रूप में काम करती थी, जिसका विधान वास्तविक रूप में प्रजातंत्र ढंग का था। पुराने समय में भारतीय शासन का विकेन्द्रीयकरण पूरा हो गया था। ग्राम एक छोटा प्रजातंत्र था, जहाँ का अगुआ ग्रामणी कहा जाता था। प्राचीन ग्रन्थों तथा शिलालेखों में उसके लिए कई विभिन्न नाम मिलते हैं; पर मूल में सब एक ही हैं। गाँव के सारे काम ग्राम-सभा किया करती थी। उसके सदस्य ग्राम के वृद्धजन होते थे। उसमें चुनाव का नियम था। सदस्य के लिए पृथक् नियम बने थे, जिसका सबको पालन करना पड़ता था। गाँव के कार्यों की देख-रेख उसी सभा के हाथ में थी। हरएक व्यक्ति को सामूहिक प्रबन्ध का अवसर मिलता था; क्योंकि ग्राम-सभा के सदस्य निश्चित अवधि तक ही सदस्य रह सकते थे। एक के बाद दूसरे, तीसरे का नम्बर आता। गाँव के कार्य के लिए कई उपसमितियाँ बनायी गयी थीं। कृषि, सिंचाई, मंदिर, शिक्षा, रक्षा, न्याय तथा सफाई के कार्य पृथक्-पृथक् उपसमितियों के जिम्मे थे। उनके कार्य स्वतंत्र थे। अपनी सीमा में वे सब कार्य करते थे, पर ग्रामणी सब का प्रधान था। वही हर एक समिति का अध्यक्ष रहता था। एक समिति अपने सार्वजनिक कार्य के लिए ऋण लिया करती तथा लौटाने का मार्ग निकालती थी। इस प्रकार गाँव का प्रबन्ध बिना केन्द्रीय राजा के, स्वतंत्र रूप से होता था। ग्रामणी लगान का कुछ अंश प्रधान शासक को भेज देता और शेष को ग्राम-प्रबंध में व्यय करता था। केवल न्याय का कार्य पंचायत के जिम्मे था; इसलिए न्याय की प्रधानता के कारण गाँव-सभा को पंचायत ही कहा करते थे। मुसलमान बादशाहों ने भी

पंचायत को अछूता रक्खा। हाँ, पंचायत के कार्यों का निरीक्षण समय-समय पर जरूर हुआ करता था। जब अँग्रेज भारत में आये, तो शासन में केन्द्रीयकरण की नीति आ गयी। शासन-सूत्र को अपने हाथों में रखनेवाले अँग्रेज भला पंचायत को कब देख सकते थे? प्रजातंत्र प्रणाली को उन्हें नष्ट करना था, इसलिए वह व्यवस्था समाप्त कर दी गयी। प्रसन्नता की बात है कि हम उसका मूल्य अब समझने लगे हैं और प्रान्तीय सरकारें पुरानी ग्राम-पंचायतों को फिर से स्थापित करने के लिए नियम लागू कर रही हैं। भारत का यह नमूना संसार में अद्वितीय है। हमारी संस्कृति का ग्राम-शासन एक मुख्य अंग रहा है। विश्व के सामने इसे उपस्थित करते प्रत्येक भारतीय को गर्व होता है।

विदेशी यात्रियों के वर्णन से भी अनेक बातें मालूम होती हैं। उनके वर्णन भारतीय संस्कृति के उदार तथा सारगर्भित होने के प्रमाण हैं। हमारी संस्कृति की कहानी स्पष्ट और लम्बी है; परन्तु यहाँ पर अत्यन्त संक्षेप वर्णन से ही अपने को संतुष्ट करना पड़ा है। उसी को अपनाने से स्वतंत्र भारत का कल्याण होगा।